सरस्वती-सिरीज़ नं० ५४

इत्सिंग की भारतयात्रा

संतराम बी० ए०

प्रकाशक
इंडियन प्रेस लिमिटेड
प्रयाग

सरस्वती-सिरीज़

स्थायी परामर्शदाता—डा० भगवानदास, पण्डित अमरनाथ झा, भाई परमानन्द, डा० प्राणनाथ विद्यालङ्कार, श्री सत्यदेव विद्यालङ्कार, पं० द्वारिकाप्रसाद मिश्र, संत निहालसिंह, पं० लक्ष्मणनारायण गर्दे, बाबू संपूर्णानन्द, श्री बाबूराव विष्णुपराड़कर, पण्डित केदारनाथ भट्ट, ब्यौहार राजेन्द्रसिंह, श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, श्री जैनेन्द्र कुमार, बाबू वृन्दावनलाल वर्मा, सेठ गोविन्ददास, पण्डित योगेश चटर्जी, डा० ईश्वरीप्रसाद, डा० रमाशंकर त्रिपाठी, डा० परमात्माशरण, डा० बेनीप्रसाद, डा० रामप्रसाद त्रिपाठी, पण्डित रामनारायण मिश्र, श्री संतराम, पण्डित रामचन्द्र शर्मा, श्री महेशप्रसाद मौलवी फ़ाज़िल, श्री रायकृष्णदास, बाबू गोपालराम गहमरी, श्री उपेन्द्रनाथ "अश्क", डा० ताराचंद, श्री चन्द्रगुप्त विद्यालङ्कार, डा० गोरखप्रसाद, डा० सत्यप्रकाश, श्री अनुकूलचन्द्र मुकर्जी, रायसाहब पण्डित श्रीनारायण चतुर्वेदी, रायबहादुर बाबू श्यामसुन्दरदास, पण्डित सुमित्रानन्दन पंत, पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पण्डित मोहनलाल महतो, श्रीमती महादेवी वर्मा, पण्डित अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, डा० धीरेन्द्र वर्मा, बाबू रामचन्द्र टंडन, पण्डित केशवप्रसाद मिश्र, बाबू कालिदास कपूर, इत्यादि, इत्यादि।

ऐतिहासिक विचित्र कथा

इत्सिंग की भारत-यात्रा

इत्सिंग की मनोरंजक व ऐतिहासिक भारत-यात्रा

संतराम बी० ए०

Printed and Published by K. Mittra at The Indian Press Ltd. Allahabad

प्रस्तावना

आरम्भ में, जब तीन सहस्र लोक उत्पन्न किये जा रहे थे, सब पदार्थ उत्पन्न हो गये, परन्तु अभी जड़ और चेतन वस्तुओं में कोई भेद न था। यह ब्रह्माण्ड एक शून्य उजाड़ था, जिसमें न सूर्य घूमता था और न चन्द्र। दुःख-सुख और सत्-असत् में कोई भेद न था। जब आभास्वर देवता अपने शारीरिक प्रकाश के साथ पृथ्वी पर उतरे, वे अपना भोजन पृथ्वी की मोटाई से लेते थे, इसलिए लोभ और पेटूपन का स्वभाव प्रादुर्भूत हुआ, और वे वन की लताओं और सुगन्धित चावलों को एक दूसरे के बाद खाने लगे। जब उनका प्रकाश क्रमशः लोप हो गया तब सूर्य-चन्द्र प्रकट हो गये। विवाह और कृषि की अवस्था पैदा हुई, और राजा-प्रजा तथा पिता-पुत्र-सम्बन्धी नियम स्थापित हो गये। तब अधिवासियों को ऊपर नीलाकाश की ओर देखने पर नक्षत्र घूमते हुए दिखाई दिये। बाद को नीचे की ओर दृष्टि डालने पर उन्होंने देखा कि पृथ्वी अधिक ठोस होती जा रही है। दो तत्त्वों, अस्ति और नास्ति ने द्यो-पृथ्वी का रूप धारण कर लिया और उनके बीच अन्तरिक्ष में मनुष्य उत्पन्न हुए; मैले और साफ़ पवन के प्रभाव से, प्रकृति में अपने आप द्वन्द्व पैदा हो गये। पृथ्वी पर पर्वत वृक्ष खड़े थे, नक्षत्र ऊपर बिखरे हुए थे, और जड़ पदार्थ फैल और बढ़ रहे थे। अन्त को उनमें मत-भेद हो गया, और वे छियानवे श्रेणियों में विभक्त हो गये; तत्त्व पच्चीस श्रेणियों में बाँटे गये।

हमारे परमगुरु, लोक-ज्येष्ठ शाक्य ने ही अद्भुत सत्य का उपदेश दिया है। उसने बारह निदान समझाये हैं और अठारह अनुपम

'धर्म'* उपार्जन किये हैं। उसने अपने आपको देवों और मनुष्यों का गुरु (शास्ता देवमनुष्यानाम्), अथवा सर्वज्ञ कहा है। केवल उसी ने चार प्रकार की सृष्टि† को अग्नि-कुण्ड (संसार) से निकाला, और जीवन की तीन अवस्थाओं‡ को अन्धकार के निवास से मुक्त किया है। वह क्लेश-रूपी नदी को पार करके निर्वाण-रूपी तट पर आ पहुँचा है।

जब हमारे मुनि ने नाग नदी अर्थात् (निरञ्जना नदी) पर बोधि-ज्ञान प्राप्त किया, तब प्राणियों की नौ श्रेणियां§ मोक्ष की आशा करने लगीं। तब इस ज्योति के मृगदाव (काशी) में जाने से जीवन के छः|| मार्गों की धर्म्म-पिपासा शान्त हुई।

ज्यों ही उन्होंने धर्म्म-चक्र को फिराना आरम्भ किया, सबसे पहले पाँच मनुष्यों¶ ने उनके उपदेश का लाभ उठाया। फिर उन्होंने शील-सोपान का उपदेश दिया, और सहस्रों लोगों ने उनके सामने सिर

---

* ये धर्म्म हैं—सम्यक् कर्म्म, सम्यक् वचन और सम्यक् सङ्कल्प; भूत, भविष्य और वर्तमान का ज्ञान; प्रज्ञा, मोक्ष, शान्त मन, इत्यादि।

† अर्थात् गर्भ से (१) अण्डों से, (२) आर्द्रता से, (३) अथवा अलौकिक रीति से उत्पन्न हुई सृष्टि।

‡ जीवन की तीन अवस्था:—(१) काम-जगत्, (२) रूप-जगत्, (३) अरूप-जगत्।

§ नौ श्रेणियाँ पूर्वोक्त तीन अवस्थाओं के उप-विभाग हैं; इनमें से प्रत्येक तीन-तीन उपविभागों में बाँटी गई हैं।

|| जीवन के छः मार्ग ये हैं—मानव, देव, प्रेत, तिर्यग्योनि, असुर और नरक।

¶ पंचवर्गीय भिक्षुओं अर्थात् कौण्डिन्य, वप, भद्रिय, महानाम और अश्वजित को ही बुद्ध ने पहले-पहल ऋषिपत्तन में धर्म्मचक्र का उपदेश दिया था।

नवाया। इस पर उनका ब्रह्मनाद राजगृह में सुनाई दिया, जिससे असंख्य आत्माओं का उद्धार हुआ।

माता-पिता के प्रेम का बदला चुकाने के लिए जब वे कपिलवस्तु वापस आये तब उन्हें बहुत-से ऐसे शिष्य मिले, जिनको उनके उपदेशों पर श्रद्धा थी। उन्होंने सबसे पहले आज्ञात कौण्डिन्य को उपदेश देकर भिक्षु बनाया।

उन्होंने अपने जीवन में अन्तिम दीक्षा सुभद्र* को दी, जिससे उसके जीवन का अन्तिम काल उसकी मूल-अभिलाषा के अनुरूप हो।

वे संघ की स्थापना और रक्षा करते हुए अस्सी वर्ष तक जीते रहे। उन्होंने नौ सभाओं में अपने निर्वाण के सिद्धान्त का प्रचार किया।

साधारण अनुयायियों को वे केवल पंचशील की ही शिक्षा देते थे, परन्तु भिक्षुओं को अपराधों के सात स्कंधों का आशय खूब खोलकर समझाया करते थे। वे समझते थे कि इस लोक के अधिवासियों के बड़े से बड़े पाप भी शील की वृद्धि से दूर हो जाते हैं, और मेरी विनय की सम्यक् शिक्षा से छोटे से छोटे दोष भी नष्ट हो जाते हैं।

जब गुरुदेव लोगों को उनकी योग्यताओं के अनुसार उपदेश तथा परित्राण देने की इच्छा करते, तब वे उन सब युक्तियों को छोड़ देते जो दूसरे मनुष्य के लिए अतीव उपयुक्त थीं। अन्त में इस धराधाम पर भगवान् का धर्मोपदेश-काल जब समाप्ति को पहुँच चुका और वे अपने कार्य में कृतकार्य हो चुके तब उनका प्रतिबिम्ब शाल वृक्षों की दो श्रेणियों के बीच लोप हो गया। उस समय मनुष्य और देवता की कौन कहे, साँप और प्रेत भी शोकार्त थे। उन सबके आँसुओं से शाल-तरुओं के नीचे की भूमि भीगकर कीचड़ हो गई। जिनको सबसे

---

* बुद्ध का अन्तिम शिष्य सुभद्र था।

अधिक शोक हुआ उन्होंने अपने सारे शरीर पर रक्त के आँसू बहाये, जिससे उनके शरीर कुसुमित पेड़ों के समान दिखाई देते थे।

हमारे गुरुदेव के निर्वाण प्राप्त करने के अनन्तर धर्म के योग्य उपदेशक प्रकट हुए। उन्होंने एक बार बिहार की गुहा में और दूसरी बार वैशाली में इकट्ठे होकर बुद्ध के पवित्र ग्रन्थों का संग्रह किया। विनय के बड़े-बड़े संरक्षकों में अठारह भिन्न-भिन्न विभाग उत्पन्न हो गये। अनेक मतों और ऐतिह्यों के अनुसार भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के त्रिपिटक एक दूसरे से भिन्न हैं। इनकी भिन्नता छोटी-छोटी बातों पर है।

प्रत्येक सम्प्रदाय के अपने ऐतिह्य हैं जो गुरु से शिष्य को मिले हैं। ये ऐतिह्य एक दूसरे से भिन्न हैं और प्रत्येक की पूरी-पूरी व्याख्या है, जिससे वे आपस में मिश्रित नहीं हो सकते।

आर्यमूलसर्वास्तिवादनिकाय निम्न परिधान के अञ्चल को सीधा, और दूसरे तीन निकाय इसे बेडौल काटना बताते हैं। २. वही निकाय निवास के लिए अलग-अलग कमरों की आज्ञा देता है, परन्तु आर्य-सम्मति-निकाय रस्सियों के बनाये हुए घेरे में जुदा-जुदा बिछौने नियुक्त करता है। ३. आर्यमूलसर्वास्तिवाद-निकाय भिक्षा सीधे हाथ में पकड़ लेता है किन्तु आर्यमहासंघिक-निकाय भिक्षा रख देने के लिए स्थान पर चिह्न कर देता है।

पश्चिम (भारत) में इन निकायों के अनेक उप-सम्प्रदाय हैं। इनके मूल भिन्न-भिन्न हैं। परन्तु निरन्तर ऐतिह्य के मुख्य निकाय केवल चार हैं। वे आगे दिये जाते हैं—

१

आर्यमहासंघिक-निकाय सात भागों में बँटा हुआ है। इसके तीन पिटकों में से प्रत्येक में १,००,००० श्लोक, अथवा सारे ३,००,००० श्लोक हैं।

२

आर्यस्थविर-निकाय के तीन उपविभाग हैं। इसके तीन पिटकों में श्लोकों की संख्या पूर्वोल्लिखित निकाय के श्लोकों के ही बराबर है।

३

आर्यमूलसर्वास्तिवाद-निकाय सब पदार्थों के अस्तित्व को मानता है। यह निकाय चार उपविभागों में विभक्त है। इसके तीन पिटकों में श्लोकों की संख्या उतनी ही है जितनी कि ऊपर के निकाय में है।

४

आर्यसम्मिति-निकाय के चार उपविभाग हैं। इसके त्रिपिटकों में २,००,००० श्लोक हैं, केवल विनयपिटक के ही श्लोकों की संख्या ३०,००० है। परन्तु यह बात ध्यान देने योग्य है कि इस विभाग के विषय में इन निकायों के कुछ ऐतिह्यों का भारी मतभेद है।

भारत के पाँचों खण्डों और दक्षिण-सागर के द्वीपों में लोग चार ही निकाय बताते हैं। परन्तु भिन्न-भिन्न स्थानों में प्रत्येक निकाय के भक्तों की संख्या भिन्न-भिन्न है।

मगध (मध्य भारत) में सर्वास्तिवाद-निकाय का जोर सबसे ज्यादा है। लाट* और सिन्धु में अधिक अनुयायी सम्मितिनिकाय के, उत्तर-खण्ड (उत्तर-भारत) में सब लोग सर्वास्तिवाद-निकाय के माननेवाले हैं यद्यपि कभी-कभी महासंघिक-निकाय के अनुयायी भी मिल जाते हैं। दक्षिण (दक्षिण-भारत) की ओर सब स्थविरनिकाय के अनुयायी हैं, यद्यपि दूसरे निकायों के भक्त भी मौजूद हैं। पूर्वी सीमान्त प्रदेशों† में चारों निकायों के अनुयायी मिले-जुले हैं।

---

* लाट शायद राजपूताना या देहली में कोई स्थान रहा हो। लैसन (Lassen) के मतानुसार 'लाट' राष्ट्र का सूचक है।

† नालन्द विहार से ५०० योजन तक पूर्व की ओर जाने पर, सारा देश पूर्वी सीमान्त कहलाता है।

सिहल द्वीप (लङ्का) में सब आर्यस्थविर-निकाय के अनुयायी हैं और आर्यमहासंघिक-निकाय को अस्वीकार करते हैं।

दक्षिण-सागर के द्वीपों में---जिनमें दस से अधिक देश हैं---प्रायः एकमात्र मूलसर्वास्तिवाद-निकाय का ही सर्वत्र प्रचार है। यद्यपि कभी-कभी कुछ लोग सम्मति-निकाय के भी उपासक रहे हैं, और हाल ही में दूसरे दो निकायों के भी थोड़े-से अनुयायी मिले हैं। पश्चिम से गिनने पर सबसे पहले पो-लू-शी (पुलूशिह) द्वीप है और फिर मो-लो-यू (मलायू) देश जो कि अब श्रीभोज का (सुमात्रा में) देश है, मो-हो-सिन (महासिन) द्वीप, होलिङ्ग (कलिङ्ग) द्वीप (जावा में), तन-तन द्वीप (नतूना द्वीप), पेन-पेन द्वीप, पो-ली (बाली) द्वीप, कू-लुन द्वीप (पूलो कानडोर), फ़ो-शिह-पू-लो (भोजपुर) द्वीप, ओ-शान द्वीप और मो-चिया-मैन द्वीप है।

कुछ और भी छोटे-छोटे द्वीप हैं। उन सबका उल्लेख यहाँ नहीं हो सकता। इन सब देशों ने बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिया है, और एक मलायू (श्रीभोज) को छोड़कर जहाँ कि थोड़े-से लोग महायान के अनुयायी हैं, बहुधा लोग हीनयान-सम्प्रदाय के माननेवाले हैं।

दक्षिण-पश्चिम दिशा में चलने से मनुष्य (पैदल) एक मास में पोह्-नन (फूओ) में, जो पहले फ़ू-नन कहलाता था, पहुँच जाता है। प्राचीन काल में इस देश के अधिवासी नग्न रहा करते थे। ये लोग बहुधा आकाश (देवताओं) के उपासक थे। फिर बाद को, यहाँ बौद्ध धर्म्म फैला, परन्तु अब एक दुष्ट राजा ने इस धर्म्म को जड़ से उखाड़कर देश से बाहर निकाल दिया है। अब बौद्ध संघ का यहाँ कोई भी मनुष्य नहीं है परन्तु दूसरे धर्म्मों के अनुयायी (विधर्म्मी) मिले-जुले रहते हैं। यह प्रदेश जम्बूद्वीप का दक्षिणी कोना है, और समुद्र के द्वीपों में से एक द्वीप नहीं। पूर्वी हिसया (अर्थात् चीन) में बौद्ध जनता बहुधा धर्म्मगुप्त-निकाय की अनुयायी है, किन्तु कवन चुङ्ग (शेन-सी) में कुछ स्थानों के लोग, प्राचीन काल से, महासंघिक-निकाय और

धर्मगुप्त-निकाय दोनों को मानते हैं। प्राचीन काल में किअङ्ग-मन (यङ्ग-त्सी-किअङ्ग नदी के दक्षिण) और लिङ्ग-पियाओ (श्रेणी अर्थात् ववङ्ग-तुङ्ग और क्वङ्ग-सी के दक्षिण) में सर्वास्तिवाद-निकाय फैल चुका है। जब हम कहते हैं कि विनय दशाध्याय अथवा चतुर्वर्ग में विभक्त हैं तब ये नाम विशेषतः (उन) निकायों के ग्रहण किये हुए मूलग्रन्थों के भागों अथवा गट्ठों से लिये गये हैं। इन निकायों की विशिष्टताओं और इनकी शिक्षा के प्रभेदों की ध्यानपूर्वक परीक्षा करने से पता लगता है कि उनमें बहुत-सी बातों पर मतभेद है। जिस बात को एक महत्त्व देता है उसे दूसरा वैसी नहीं समझता, और जिसकी एक में आज्ञा है उसका दूसरे में निषेध है।

चार निकायों में से कौन-से महायान के साथ अथवा हीनयान के साथ लगाने चाहिए, इसका निश्चय नहीं है।

उत्तर-भारत में और दक्षिणस्थ सागर के द्वीपों में लोग प्रायः हीनयान के अनुयायी हैं, परन्तु चीन में महायान के भक्त हैं। दूसरे स्थानों में कोई एक के अनुसार चलता है और कोई दूसरे के अनुसार।

जो लोग बोधिसत्त्वों की उपासना करते और महायानसूत्रों को पढ़ते हैं वे महायानी, और जो ये बातें नहीं करते, वे हीनयानी कहलाते हैं। महायान के केवल दो प्रकार हैं। पहला माध्यमिक और दूसरा योग। इनमें से पहले का मत है कि जिसे सामान्यतः अस्ति कहते हैं वह वास्तव में नास्ति है, और प्रत्येक वस्तु, माया के सदृश, एक खाली आभास-मात्र है। दूसरा कहता है कि वस्तुतः अन्तः विचारों के सिवा बाह्य वस्तु कोई नहीं, और सब वस्तुओं का अस्तित्व केवल हमारे मन में ही है। (शब्दशः—सब वस्तुएँ केवल हमारा मन ही हैं)।

ये दोनों दर्शन पूर्णतः आर्यमत के अनुसार हैं। दोनों समान रूप से सत्य के सदृश हैं और हमें निर्वाण तक ले जाते हैं। दोनों का लक्ष्य क्लेश का विनाश और प्राणि-मात्र का उद्धार है। यदि हम इनमें से

किसी एक के अनुसार आचरण करेंगे तो दूसरे किनारे (निर्वाण) पर जा पहुँचेंगे, और यदि हम उनसे मुख मोड़ लेंगे तो पुनर्जन्मरूपी महासागर में डूबे रहेंगे। दोनों पद्धतियाँ समान रूप से भारत में सिखाई जाती हैं, क्योंकि आवश्यक बातों में उनका आपस में भेद नहीं है।

हमारे अभी 'ज्ञान-चक्षु' नहीं। हम उनमें सच और झूठ को कैसे पहचान सकते हैं?

हमें ठीक वैसे ही करना चाहिए जैसे कि हमारे पूर्वाधिकारियों ने किया है, और उनके विषय में अपना निर्णय करने का क ट नहीं उठाना चाहिए।

विनय की पुस्तकें क्रमशः परिवर्त्रित की गई थीं, परन्तु वे दुर्बोध हो गईं। यहाँ तक कि उनका पारायण एक पूरे जीवन का काम हो गया है। गुरुओं और शिष्यों ने एक निराली रीति ग्रहण की है। वे प्रकरण को छोटे-छोटे खण्डों में अलग करके उनपर संवाद करते हैं। वे अपराधों से सम्बन्ध रखनेवाले लेखों का वर्णन, उन्हें वाक्यों में विभक्त करके, करते हैं। इस रीति में जितना परिश्रम होता है, उसके लिए इतने बड़े उद्यम का प्रयोजन है जितना कि एक पर्वत बनाने के लिए चाहिए; और लाभ उतना ही कठिन है जितना कि विस्तीर्ण महासागर से मोतियों की प्राप्ति। ग्रन्थकर्त्ताओं को यत्न करना चाहिए कि उनके वर्णित विषय को पाठक सुगमता से समझ जायँ। उन्हें ऐसी गूढ़ भाषा का व्यवहार न करना चाहिए जिसके लिए बाद को, दूसरों के उपहास करने पर, समाधान की आवश्यकता हो।

जब नदी में बाढ़ आने से उसका जल गहरे कुँए में भर गया हो उस समय कुँए का शुद्ध जल पान करने की इच्छा रखनेवाला प्यासा मनुष्य अपने जीवन को जोखिम में डालकर ही जिस प्रकार उसे प्राप्त कर सकता है, उसी प्रकार बहुत-से लोगों के हाथों में से गुजरने के

बाद विनय का ज्ञान प्राप्त करना कठिन है। परन्तु विनय के केवल मूल पाठ को देखें तो वहाँ यह बात नहीं।

छोटे अथवा बड़े अपराधों का निर्णय करने के लिए केवल थोड़ी-सी पंक्तियाँ ही पर्याप्त होती हैं। अभियोगों का निर्णय करने के निमित्त उपायों की व्याख्या में मनुष्य को आधा दिन भी नहीं लगता। भारत और दक्षिण-सागर के द्वीपों में भिक्षुओं में अध्ययन का व्यापक उद्देश ऐसा ही है। दिव्य भूमि (चीन) में दूसरों के प्रति कर्तव्य (औचित्य) की शिक्षा का प्रचार सर्वत्र है; लोग अपने राजा तथा अपने माता-पिता का पूजन और सेवन करते हैं; वे अपने बड़ों का आदर करते और उनके अधीन रहते हैं। उनका जीवन सरल और उनका चरित्र शान्त और प्रिय है। वे वही लेते हैं, जिसे ईमानदारी से ले सकते हैं।

पितृभक्त सन्तान और राजभक्त प्रजा बड़ी सावधानी से कार्य करती और मितव्ययी है। सम्राट् अपनी करोड़ों प्रजाओं पर हितभाव से शासन करता और उषाकाल से अभागे लोगों पर बड़े यत्न से (शब्दशः—'अपनी चिन्ता पर जोर डालकर') दया करता है। उसके मन्त्री, जिनके मन सारी-सारी रात राज्य-कार्यों पर विचार करते रहते हैं, अपने कर्तव्य को आदर (शब्दशः—हाथ बाँधे) और ध्यान (शब्दशः—'मानो बर्फ पर चल रहे हों', से पूरा करते हैं।

कभी-कभी एक सम्राट् त्रियान† के लिए बड़ा मार्ग खोल देता और सैकड़ों पीठें तैयार करके अध्यापकों को निमन्त्रित करता है। कभी-कभी वह अपने सारे राज्य में चैत्य बनवाता है ताकि समस्त बुद्धिमान् लोग अपने मन को बुद्ध-धर्म की ओर प्रवृत्त करें। अथवा वह अपने राज्य में अन्न-सत्र संघाराम बनवाता है ताकि सभी अज्ञानी अपने

---

* शब्दार्थ—'जैसे वे खाइयों में गिरे हों।'

† धर्मसंग्रह के अनुसार, आर्ययान, प्रत्येक बुद्धयान और महायान।

पुण्य को परिपक्व करने के लिए वहाँ जाकर उपासना करें। किसान अपने खेतों में हर्ष से गाते और व्यापारी अपने पोतों पर अथवा अपने छकड़ों पर आनन्द से राग अलापते हैं। वास्तव में कुक्कुटों की पूजा करनेवाले लोग (अर्थात् कोरिया), हाथियों का अभिवन्दन करनेवाले लोग (भारत), और चिन-लिन (शब्दार्थ, स्वर्ण-प्रतिवासी) तथा यू-लिन (शब्दार्थ, रत्न-पर्वत) के प्रदेशों के अधिवासी सम्राट् की सभा में आकर पादवन्दन करते हैं। हमारे लोग शान्त अवस्था में शान्ति-पूर्वक अपना कारबार करते हैं (अथवा 'शान्ति और सुख हमारे उद्देश हैं'), और प्रत्येक बात ऐसी पूर्ण है कि उसमें और वृद्धि की गुञ्जायश नहीं।

जिन चीनी भिक्षुओं ने घर-बार छोड़ दिया है, वे नियमों का पालन करते और व्याख्यान देते हैं। शिष्यगण गम्भीरता-पूर्वक अध्ययन करते और अपने-अपने गुरुओं के पढ़ाये हुए अतीव गहरे सिद्धान्तों को समझते हैं। ऐसे भी लोग हैं, जो सांसारिक बन्धनों से मुक्त होकर किसी गहरी दरी में एकान्तवास कर रहे हैं। वहाँ वे अपने विचारों को शान्त करने में लगे हुए, पथरीली नदी के जल से मुँह धोते और वृक्षाकीर्ण वनों में बैठते हैं। परन्तु ऊपर से चले आनेवाले कुछ अशुद्ध उल्थाओं के कारण विनय के नियम की हानि हुई है, और नित्य दुहराई हुई भूलें रीतियाँ बन गई हैं जो कि मूल सिद्धान्तों के विपरीत हैं। इसलिए, आर्य-शिक्षा और भारत में वस्तुतः प्रचलित बड़ी-बड़ी रीतियों के अनुसार, हमने बड़ी सावधानी से आगे दिये लेख लिखे हैं। इनकी संख्या चालीस है, और मैंने इन्हें चार ग्रन्थ-खण्डों में विभक्त किया है। इसका नाम है 'नन्त-है-ची-कुएई-नै-फ़ा-चूअन', अर्थात् 'दक्षिण-समुद्र से स्वदेश भेजा हुआ पवित्र धर्म्म का इतिहास।' इसके साथ मैं आपके पास अपनी एक दूसरी रचना, 'ता-त' अङ्ग-सी-यू-कू-फ़ा-काओ-सेङ्ग-चू 'अन' अर्थात् 'उन विश्रुत भिक्षुओं के वृत्तान्त जिन्होंने महा 'त-अङ्ग कुल (६१८ ई०—९०७ ई०) के अधीन धर्म्म-जिज्ञासा के लिए भारत और उसके

समीपवर्ती देशों ... यात्रा की थी;' और कई सूत्र और शास्त्र, सब मिलाकर, दस पुस्तकें भेज रहा हूँ। मुझे आशा है कि पूज्यपाद भिक्षुगण, जो अपने धर्म्म-प्रचार में तत्पर हैं और जिनमें किसी प्रकार का पक्षपात नहीं, बुद्ध भगवान् की शिक्षा तथा आचरण के अनुसार विवेक-पूर्वक आचरण करेंगे, और ग्रन्थकर्त्ता को तुच्छ समझने के कारण इस ग्रन्थ में वर्णित महत्त्वपूर्ण नियमों की उपेक्षा न करेंगे।

मैंने उन्हीं धर्म्मानुष्ठानों का मोटा-मोटा वर्णन किया है जो कि विनय-वाद से मिलते हैं, और आपके सम्मुख उन्हीं शब्दों को रखा है जिनका आधार मेरे आचार्यों के प्रमाण हैं। यदि आप मेरे इस लेख को पढ़ेंगे तो एक भी पग चलने के बिना, आप भारत के समस्त पञ्च-प्रदेशों की यात्रा कर लेंगे, और एक ही मिनट देने पर आप भावी सहस्रों युगों के लिए तमोमय मार्ग का दर्पण बन जायँगे।

इस पुस्तक में वर्णित सभी बातें आर्यमूलसर्वास्तिवाद-निकाय के अनुसार हैं, इसलिए दूसरे निकायों की शिक्षा के साथ इन्हें गड़बड़ न कर देना चाहिए। इस ग्रन्थ के विषय प्रायः दशाध्याय के विनय से मिलते हैं।

आर्यमूलसर्वास्तिवाद-निकाय के तीन उप-विभाग हैं—१. धर्म्म-गुप्त; २. महीशासक; ३. काश्यपीय।

बौद्ध अनुष्ठानों का इतिहास

[१]

वर्ष (अथवा वस्स अर्थात् ग्रीष्म का एकान्तवास) न करने के विषय में

जो भिक्षु वर्ष* नहीं करते वे उससे होनेवाले दस† लाभों से वञ्चित रहते हैं, परन्तु इस कारण से उनको सम्प्रदाय में उनके वास्तविक पद से नीचे के पद पर गिराना और सहसा अपनी क्रिया में परिवर्त्तन करने और अपने से छोटे भिक्षु को, जो अभी कल ही उसे प्रणाम किया करता था, वन्दना करने पर विवश करना उचित नहीं है। परन्तु पद से गिरा देने की यह रीति (चीन में) प्रचलित थी, *यद्यपि इसकी पुष्टि में कोई आप्तवचन या प्रमाण न था।*

भिक्षु ने चाहे वर्ष न भी मनाया हो, उसे पद से नहीं गिराना चाहिए। यदि हम बुद्ध की शिक्षा का पाठ और मनन करें तो (इस रीति के लिए) उसमें कोई प्रमाण नहीं। तब पूर्व काल में कि..ने (चीनियों में) इस रीति का प्रचार किया?

[२]

पूज्यों के प्रति व्यवहार

बुद्ध की शिक्षा के अनुसार, जब कोई भिक्षु पवित्र प्रतिमा के सामने हो, या पूज्य आचार्यों के पास जाय तो, रोग की अवस्था को

* वर्ष वास्तव में वर्षा ऋतु के चार मास—आषाढ़ सुदी द्वादशी से कार्तिक द्वादशी तक—हैं। यह चातुर्मास्य बौद्ध भिक्षुओं के लिए एकान्त-वास का समय है। इस काल में उन्हें यात्रा करने का निषेध है। उनके लिए मठ से बाहर किसी दूसरी जगह रहने की आज्ञा है।

† दस लाभ वस्त्रों का अधिकार, प्रवास की स्वतन्त्रता, इत्यादि हैं। पाँच तत्व महाव ग और विनय-संग्रह में दिये हैं।

छोड़कर, उसे नङ्गे पाँव रहना चाहिए। उसका दाँया कन्धा सदा नङ्गा और बायाँ उसके कंचुक से ढँका हुआ होना चाहिए। उसके सिर पर टोपी न हो। यदि बड़े की आज्ञा लेकर वह (खड़ाऊँ के साथ) दूसरे स्थानों में घूमे तो कोई दोष नहीं। शीत-प्रदेश में, भिक्षु को छोटी-छोटी खड़ाऊँ अथवा उस देश के अनुरूप किसी प्रकार का जूता पहरने की आज्ञा है।

यह बात युक्तिपूर्वक स्वीकार करनी पड़ेगी कि शरीर की रक्षा के लिए हमें कड़ी सरदी के महीनों में अस्थायी रूप से अधिक कपड़े पहरने चाहिए, परन्तु वसन्त और ग्रीष्म में मनुष्य को विनय के नियमों* का पूर्ण रूप से पालन करना चाहिए। खड़ाऊँ पहनकर मनुष्य पवित्र स्तूप की प्रदक्षिणा न करे, इस बात की स्पष्ट शिक्षा आरम्भ से ही दी गई थी।

इस बात की घोषणा चिरकाल से की जा चुकी है कि भिक्षु गंध-कुटी के पास पादुका† पहन कर न जाय किन्तु कई लोग ऐसे हैं जो सदा ही इन नियमों को भङ्ग करते हैं; और वास्तव में हमारे बुद्ध के नियमों का यह भारी अपमान है।

[३]

भोजन के समय एक छोटी कुर्सी पर बैठना

भारत में भिक्षु लोग भोजन के पहले अपने हाथ-पाँव धोते और छोटी-छोटी कुर्सियों पर अलग-अलग बैठते हैं। यह कुर्सी सात इंच ऊँची और एक वर्गफ़ुट चौड़ी होती है। उसका आसन बेंत का बना होता

---

* बुद्ध की बताई हुई नीति को 'विनय' कहते हैं। सारी नीतियों के संग्रह का नाम 'विनय-पिटकम्' है।

† पाठ में 'पुर' लिखा है, जो कि काश्यप के मतानुसार, संस्कृत में एक प्रकार का जूता है। मालूम नहीं, शुद्ध संस्कृत शब्द क्या है।

है। परन्तु संघ के छोटे भिक्षुओं के लिए लकड़ी की पटरियाँ काम में लाई जा सकती हैं। वे अपने पाँव पृथ्वी पर रखते हैं, और थालियाँ उनके सामने रक्खी जाती हैं। गाय के गोबर से भूमि लिपी होती है और उस पर हरे पत्ते बखेरे हुए होते हैं। ये कुर्सियाँ (चौकियाँ) एक-एक हाथ के अन्तर पर रक्खी जाती हैं, जिससे उन पर बैठनेवाले मनुष्यों का एक दूसरे से स्पर्श न हो।

पलथी मारकर साथ-साथ बैठना, और घुटनों को बाहर की ओर फैलाकर भोजन करना, उचित रीति नहीं—कृपया इस पर ध्यान दीजिए। मैंने सुना है कि चीन में बुद्ध-धर्म्म के प्रचार के पश्चात् भिक्षुओं को भोजन के लिए चौकियों पर (पलथी मारकर नहीं) बैठने का अभ्यास कराया गया था। त्सिन-वंश (२६५ से ४१९ ई० तक) के शासन-काल में इस भूल का प्रचार हुआ और वे भोजन के समय पलथी मारकर बैठने लगे। कोई ७०० वर्ष (८ ई० पूर्व; ७००—६९२=८) हुए जब भगवान् बुद्ध का पवित्र धर्म्म पूर्व (चीन) में पहुँचा; दस वंशों की अवधि गुजर चुकी है। प्रत्येक वंश का एक-एक योग्य प्रतिनिधि था। भारतीय भिक्षु एक दूसरे के पश्चात् चीन में आये, और तत्कालीन चीनी भिक्षुओं ने, उनके सामने दल के दल इकट्ठे होकर, उनसे उपदेश ग्रहण किया। कुछ ऐसे भी थे जिन्होंने स्वयं भारत में जाकर यथार्थ अनुष्ठान को देखा। स्वदेश लौटने पर उन्होंने रीतियों में अशुद्धियाँ दिखलाईं, किन्तु उनके निराकरण का उद्योग किसने किया?

बचे हुए जूठे भोजन को रख छोड़ना, जैसा कि चीन में किया जाता है, भारतीय नियमों के बिलकुल विरुद्ध है। जूठे भोजन को इकट्ठा करने से थालियाँ भ्रष्ट हो जाती हैं, और जो लोग परोसते हैं वे सुच (शुद्ध) बर्तनों को छूते हैं। इस प्रकार पवित्रता की रक्षा व्यर्थ हो जाने से, अभी तक कोई अच्छा परिणाम प्राप्त नहीं हुआ। कृपया इन बातों पर सावधानी से ध्यान दीजिए, और प्रत्येक रीति के सापेक्ष गुण को देखिए।

[४]

पवित्र और अपवित्र भोजन की पहचान

भारत के भिक्षुओं और भक्तजनों में यह रीति है कि यदि केवल एक भी ग्रास भोजन का खा लिया जाय तो वह अपवित्र (मूलार्थतः 'छूआ हुआ') हो जाता है; और जिन बर्तनों में भोजन रक्खा गया था उनका फिर उपयोग नहीं किया जाता। भोजन के समाप्त होते ही, जिन बर्तनों में भोजन परोसा गया था, उन्हें उठाकर एक कोने में ढेर लगा दिया जाता है।

यह रीति धनवान् और निर्धन दोनों में पाई जाती है। यह केवल हमी में नहीं, प्रत्युत ब्राह्मणों (देवों) में भी प्रचलित है। कई शास्त्रों में कहा गया है:—'शौच होने के बाद दातुन न करना तथा हाथ न धोना, और पवित्र तथा अपवित्र भोजन में भेद न करना नीचता समझी जाती है। जो लोग 'विनय' के नियमों पर चलते हैं, उन्हें इस भेद का कुछ ज्ञान हो सकता है, परन्तु जो लोग आलसी और प्रमादी हैं, वे अनुचित मार्ग का अनुसरण करने के लिए इकट्ठे मिल जाते हैं। स्वागत अथवा किसी साधारण भोजन के अवसर पर एक दूसरे का स्पर्श नहीं करना चाहिए अथवा शुद्ध जल से कुल्ला किये बिना नये भोजन को मुँह न लगाना चाहिए। प्रत्येक परोसन के पश्चात्, जिसका एक ग्रास मनुष्य को अपवित्र कर देता है, उसे दुबारा कुल्ला करना चाहिए। यदि कुल्ला किये बिना ही वह दूसरे को छू देता है तो वह छूआ हुआ मनुष्य अपवित्र हो जाता है और उसे अवश्य कुल्ला करना चाहिए। कुत्ते का स्पर्श हो जाने पर उसे अपनी शुद्धि करनी होती है। जो लोग भोजन खा चुके हैं उन्हें कमरे के एक पार्श्व में इकट्ठा रहना चाहिए, उन्हें हाथ धोना और कुल्ला करना चाहिए, और भोजन के समय काम में लाई हुई वस्तुओं और मैले बर्तनों को भी धो डालना चाहिए।

यदि वे इन बातों की उपेक्षा करेंगे तो उनकी की हुई प्रार्थना और मन्त्र-यन्त्र सब निष्फल होंगे, और उनके चढ़ाये हुए नैवेद्य को देवता स्वीकार नहीं करेंगे। इसी लिए मैं कहता हूँ कि यदि आप "तीन रत्नों" को अथवा देवताओं को चढ़ाने के लिए, अथवा स्वयं अपने साधारण आहार के लिए कोई भोज्य या पेय पदार्थ तैयार करें तो प्रत्येक वस्तु शुद्ध और पवित्र होनी चाहिए। भोजन करने अथवा शौच होने के बाद जब तक मनुष्य शुद्ध न हो ले, दुबारा चौके में बैठने के अयोग्य होता है। भिक्षुओं के साधारण खाने अथवा स्वागत के लिए भोजन तैयार करते समय एक मनुष्य कार्याध्यक्ष होना चाहिए। यदि किसी उत्सव के अवसर पर भोजन की तैयारी में विलम्ब हो, या अतिथियों को भय हो कि वे प्रतीक्षा में निर्दिष्ट भोजन-काल से पीछे रह जायँगे, तो निमन्त्रित मनुष्य—चाहे वह भिक्षु हो और चाहे कोई साधारण भक्तजन—उस भोजन में से, जो तैयार किया गया है पर अभी तक परोसा नहीं गया, अलग लेकर खा सकता है। ऐसी बुद्ध ने आज्ञा दी है, और इसमें दोष नहीं है।

मैंने सुना है कि अभी भोजन को प्रायः तीसरे पहर तक अटकाया जाता है (निर्दिष्ट भोजन-काल दोपहर है) और उसकी तैयारी की देख-भाल भिक्षु अथवा भिक्षुणियाँ करती हैं। यह उचित नहीं, क्योंकि मनुष्य भलाई करने में एक अपराध कर देता है। अब पाँच प्रदेशों के भारत में और दूसरी जातियों में पहला और मुख्य भेद शुद्धता और अशुद्धता का असाधारण भेद है।

एक बार उत्तर के मङ्गोलों ने भारत में दूत भेजे। ये लोग पाख़ाना जाने के बाद हाथ नहीं धोते थे और अपने भोजन को थाल में रख छ.कते थे। इसलिए इनसे वहाँ घृणा की गई और इनकी हँसी उड़ाई गई। इतना ही नहीं; इनका वहाँ तिरस्कार और निन्दा भी हुई, क्योंकि वे (फ़र्श पर) टाँगें सीधी पसार कर, एक दूसरे को छूते हुए इकट्ठे खाने बैठ जाते थे, वे सूअरों और कुत्तों के पड़ोस

से दूर नहीं रहते थे, और दातुन नहीं करते थे। इसलिए जो लोग बुद्ध-धर्म्म का अनुष्ठान कर रहे हैं उन्हें इन बातों का बहुत ध्यान रखना चाहिए। परन्तु चीन में प्राचीन काल से पवित्र और अपवित्र भोजन में कभी भेद नहीं किया गया।

[५]

खा चुकने के पश्चात् सफ़ाई

जब भोजन खा चुको तब हाथों को अवश्य साफ़ करो। जीभ और दाँतों को ध्यानपूर्वक साफ़ और शुद्ध करो। होंठों को या तो मटर के आटे से या मिट्टी और पानी को मिलाकर कीच से साफ़ किया जाय, यहाँ तक कि चिकनाई का कोई धब्बा न रह जाय।

तत्पश्चात् (कुल्ला करने के लिए) किसी साफ़ बर्तन में से जल एक शुद्ध के प्याले में डालना चाहिए। यह प्याला या तो ताजा पत्तों पर रक्खा हो या हाथों में पकड़ा हुआ हो। यदि प्याला हाथ से छू जाय तो इसे साफ़ करने की तीन सामग्रियों, अर्थात् मटर के आटे, सूखी मिट्टी और गाय के गोबर से मलना, और धब्बे को दूर करने के लिए पानी से धो डालना चाहिए। एकान्त स्थान में साफ़ बर्तन से पानी सीधा मुँह में डाला जा सकता है, परन्तु सार्वजनिक स्थान में ऐसा करने का निषेध है। दो-तीन बार कुल्ला करने से मुँह प्रायः साफ़ हो जाता है। ऐसा किये बिना मुँह का पानी या थूक निगलने की आज्ञा नहीं। जब तक शुद्ध जल से कुल्ला न कर लिया हो, मुँह से थूक को बाहर फेंकते रहना चाहिए। निस्संदेह, साफ़ बासन में जल तैयार किये बिना अथवा दातुन किये बिना, न तो भोजन के बाद हँसी और बकवाद में समय नष्ट करना उचित है, और न दिन-रात अपवित्र और दोषी बने रहना ही ठीक है। यदि कोई अपने जीवन-काल में ऐसा आलस्य करता है तो उसके दुःखों का कोई अन्त नहीं रहता।

[६]

जल रखने के लिए दो लोटे

पवित्र जल धोने के जल (मूलार्थतः, 'छुए हुए' जल) से अलग रक्खा जाता है, और प्रत्येक के लिए दो प्रकार के लोटे (अर्थात् कुण्डी और कलश) होते हैं। पवित्र जल के लिए मिट्टी के बर्तन का उपयोग किया जाता है और धोने के जल (मूलार्थतः, 'छुए हुए' जल) के लिए तांबे अथवा लोहे का बर्तन होता है। पवित्र जल पीने के लिए और छुआ हुआ जल मल-मूत्र त्यागने के पश्चात् शुद्धि के लिए हर वक्त तैयार रहता है। पवित्र लोटे को पवित्र हाथ में पकड़ना और पवित्र स्थान में रखना चाहिए, और 'छुए हुए' जल को 'छुए हुए' (अथवा 'अपवित्र') हाथ में पकड़ना और अपवित्र (अथवा 'छुए हुए') स्थान पर रखना चाहिए।

लोटे को सीधा सामने रखकर जल पीने में कोई दोष नहीं; परन्तु तीसरे पहर जल पीने की आज्ञा नहीं। लोटा मनुष्य के मुख के योग्य बनाना चाहिए; ढक्कन की चोटी दो अंगुल* ऊँची चाहिए; इसमें (चीनियों की) रोटी खाने की तांबे की लकड़ी के समान एक छोटा-सा छिद्र किया जाता है।

पीने का ताजा जल ऐसी ही ठिलिया में रखना चाहिए। ठिलिया के पार्श्व में, पीने की टोंटी से दो अंगुल ऊपर, एक छोटी मुद्रा के समान गोल एक और छिद्र होता है। इस छिद्र के द्वारा जल डाला जाता है; इसमें दो-तीन गेलन आ सकती हैं। छोटी ठिलिया का उपयोग कभी नहीं किया जाता।

यदि धूल अथवा कीड़ों के अन्दर चले जाने का भय हो तो टोंटी

---

* इसका तात्पर्य दो अंगुल-विस्तार है न कि दो अंगुल-संधि; काश्यप कहता है कि 'यह कोई एक चीनी इंच के बराबर होगा।'

और छिद्र दोनों को बाँस, लकड़ी, टाट, अथवा पत्तों से ढक दिया जाता है। पानी लेने के लिए, पहले ठिलिया को भीतर से धो लेना चाहिए जिससे मैल अथवा धूल सब धुल जाय, तब ताजा जल भरना चाहिए।

ठिलिया रखने का थैला कोई दो फ़ुट लम्बे और एक फ़ुट चौड़े सूती कपड़े का बनाया जाता है। इस कपड़े के दोनों सिरों को इकट्ठा करके इसे दुहरा कर लिया जाता है, और फिर मिलनेवाले किनारों को सीकर जोड़ दिया जाता है। इसके दोनों कोनों को कोई साढ़े सात इंच* लम्बी दो रस्सियां लगाई जाती हैं। यात्रा में ठिलिया को थैले में रखकर कांधे से लटका लिया जाता है। जिस थैली में भिक्षा माँगने का कटोरा रक्खा जाता है उसकी आकृति भी उपर्युक्त थैली के सदृश ही होती है। इसके भीतर कटोरे का मुँह ऐसी अच्छी तरह से ढँप जाता है कि उसमें धूल नहीं पड़ सकती। इसकी पेंदी नोकदार होती है जिससे कटोरा इधर-उधर नहीं घूमता। परन्तु कटोरे की थैली ठिलिया के थैले से भिन्न होती है।

यात्रा करते समय भिक्षु अपनी ठिलिया, भिक्षा-पात्र, आवश्यक वस्त्र कंचुक के ऊपर कंधों से लटका लेता है और छतरी हाथ में ले लेता है। बौद्ध भिक्षु के यात्रा करने की यही रीति है।

राजगृह के चैत्यों, बोधिवृक्ष, गृध्रकूट, मृगदाव, उस पवित्र स्थान जहाँ शालवृक्ष सारस के पङ्खों के समान श्वेत† हो गये थे (कुशिनगर

---

* पाठ में 'वितस्ति' है, अर्थात् अंगूठे और मध्यमा उंगली को तानने पर उनके बीच की लम्बाई। काश्यप के अनुसार यह बारह अंगुल या साढ़े सात इंच लम्बी होती है।

† इसका संकेत उस कथा की ओर है कि बुद्ध के निर्वाण के समय, ऋतु न होने पर भी, वृक्षों में फूल आगये (महापरिनिब्बान सुत्त)।

में), और उस निर्जन कुञ्ज, जो कि गिलहरी* को समर्पित किया गया है, की यात्रा के काल में .. यात्रा करनेवाले भिक्षु उपर्युक्त स्थानों में से प्रत्येक में प्रतिदिन प्रत्येक प्रदेश से सहस्रों की संख्या में इकट्ठे होते हैं, और सभी इसी रीति से यात्रा करते हैं। नालन्द मठ के पूजनीय और विद्वान् भिक्षु पालकियों में सवार होते हैं परन्तु घोड़े पर कभी नहीं चढ़ते, और महाराज मठ के भिक्षु भी ऐसा ही करते हैं।

---

*'गिलहरी का कुञ्ज' कलन्तक-निवाप है जिसे वेणु-वन भी कहते हैं। कलन्तक या कलन्दक एक पक्षी होता है। परन्तु यह भूल मालूम होती है।

संघभेदकवस्तु इस कुञ्ज का वर्णन इस प्रकार करता है—

'बाँसों का यह कुञ्ज एक समय एक धनवान् व्यक्ति का था। बिम्बिसार अपने युवराज-काल में इस आ ा में आनन्द लिया करता था और चाहता था कि उसका स्वामी वह उसको दे दे। परन्तु उसने देने से इनकार कर दिया। जब युवराज गद्दी पर बैठा तब उसने लात् उस आराम को अपने अधिकार में कर लिया। आर ., के मालिक को इस न बहुत दुःख हुआ और वह हृत्पीड़ा से मर गया। मृत्यु के बाद वह राजा से बदला लेने के लिए साँप बन गया। वसन्तकाल में सुन्दर पुष्प खिल रहे थे; राजा अनेक दासियों-सहित बाग में गया। वाटिका में घूमने के पश्चात् उसे निद्रा ने घेर लिया। पुष्पों से मोहित होकर सब दासियाँ राजा को छोड़कर चली गईं; केवल एक ही दासी खड्ग लिये राजा की रक्षा कर रही थी। उस समय एक विषधर साँप प्रकट हुआ। वह सोये हुए राजा पर आक्रमण करना ही चाहता था कि इतने में कलन्दक जोर से चिल्लाने लगा। पहरे पर खड़ी दासी ने साँप को देखकर काट डाला। राजा की इस सेवा के बदले में, महाराज ने इस आराम को पक्षियों के नाम पर समर्पण करके इसका नाम 'कलन्दक-वेणुवन' रक्खा।'

कलन्दक के लिए देखिए 'महावग्ग।'

इस अवस्था में आवश्यक सामग्री या तो दूसरे व्यक्ति उठाते हैं या लड़के;—पश्चिम (भारत) के भिक्षुओं में ऐसी ही रीतियां हैं।

[७]

कीड़ों के सम्बन्ध में जल की प्रातःकालीन परीक्षा

प्रतिदिन सवेरे पानी की परीक्षा करनी चाहिए। प्रातःकाल पहले ठिलिया के जल की परीक्षा करनी चाहिए। बाल की नोक के समान छोटे कीड़ों को भी बचाना चाहिए। यदि कोई कीड़ा दिखाई दे तो पड़ोस की किसी नदी अथवा पुष्करिणी के पास जाकर कीड़ोंवाला जल बाहर फेंक दो, और ताजा छाना हुआ जल उसमें भर लो। यदि कुआं हो तो इसके जल को सामान्य रीति के अनुसार छानकर काम में लाओ।

पानी को छानने के लिए भारतीय लोग बारीक श्वेत वस्त्र का उपयोग करते हैं; और चीन में बारीक रेशमी कपड़े से, हलकी सी मांड़ देने के बाद, यह काम लिया जा सकता है, क्योंकि कच्चे रेशम के जाल-छिद्रों में से छोटे-छोटे कीड़े सुगमता से चले जाते हैं। हूचिह् (एक सामान्य माप का नाम) के कोई चार फ़ुट भर कोमल टसर का टुकड़ा लो और किनारों से पकड़कर इसे लम्बाई में रक्खो। तब दोनों सिरों को लेकर इसे दुहरा कर दो और उन्हें सीकर एक जाल-सा बना दो। फिर इसके दोनों कानों के साथ रस्सियां और दोनों पार्श्वों के साथ तुकमे लगाओ। तब इसे चौड़ा तानने के लिए इसके आर-पार एक डेढ़ फ़ुट लम्बी लकड़ी रक्खो। अब इसके दोनों सिरों को बल्लियों से बांधकर इसके नीचे एक बासन रख दो। जब आप बटलोही में से इसमें पानी डालें, तब इसकी पेंदी बासनी के अन्दर होनी चाहिए, जिससे जल-बिन्दुओं के साथ कोई कीड़ा न गिर पड़े, और भूमि पर अथवा बासन में गिरकर नष्ट न हो जाय। ज्यों ही

चालनी में से पानी निकल आये, इसको उलचो और इसकी परीक्षा करो। यदि इसमें कीड़े हों तो इसे वापस कर दो, और यदि यह यथेष्ट स्वच्छ हो तो इसका उपयोग करो। जब पर्याप्त पानी प्राप्त हो जाय तब चालनी को उलट दो। इसे दो मनुष्य दोनों सिरों से पकड़ते हैं। इसे 'जीव-रक्षक-पात्र' में रक्खो, इसे तीन बार पानी से खँगाल डालो, और इसके बाहर की ओर से इस पर फिर पानी डालो। इसमें एक बार फिर पानी डालो, ताकि चालने से मालूम हो जाय कि कहीं अब इसमें कोई क़ीड़ा तो नहीं। इस प्रकार छान लेने पर भी, रात भर के रक्खे हुए पानी को, दुबारा जाँचने की आवश्यकता होती है; क्योंकि जो मनुष्य रात भर के पड़े हुए जल की जाँच नहीं करता, विनय में, उसे दोषी कहा गया है।

नदी या जलाशय की अवस्था में पानी को एक दुहरी ठिलिया-द्वारा, जो कि जल में सुरक्षित रूप से रक्खे हुए बेंत के बासन के भीतर होती है, छाना जा सकता है। छठे अथवा सातवें, मास में कीड़े इतने सूक्ष्म हो जाते हैं, और दूसरी ऋतुओं से वे इतने भिन्न होते हैं कि वे कच्चे रेशम की दस तहों में से भी निकल जाते हैं।

कीड़ों को स्वतंत्र करने के लिए एक पत्तल जैसे थाल का उपयोग किया जा सकता है, किन्तु रेशम की चालनी भी बड़ी उपयोगी है। भारत में, बुद्ध के बताये हुए नियमों के अनुसार थाल प्रायः ताँबे के बनते हैं। जीव-रक्षक बासन एक छोटा-सा जल-पात्र होता है जिसका मुँह स्वयं पात्र जितना ही चौड़ा होता है। इसकी पेंदी के पार्श्वों पर दो लट्टू होते हैं, जिनके साथ रस्सियाँ बाँधी जाती हैं। जब इसे पानी में उतारा जाता है तब उलट दिया जाता है, और दो-तीन बार पानी में डुबाने के पश्चात्, इसे ऊपर खींच लिया जाता है।

उच्च भिक्षुओं को चाहिए कि वे न तो मन्दिर की चालनियों को और न छानने के लिए कोठरी में रक्खे हुए जल को ही स्पर्श करें। छोटे भिक्षु, जिन्हें अभी पूरी दीक्षा नहीं मिली, कोई भी जल लेकर

पी सकते हैं; किन्तु यदि वे किसी अनुचित समय पर पीने लगें तो उन्हें एक साफ़ चालनी, स्वच्छ ठिलिया और पवित्र बर्तनों का, जो कि काम देने योग्य हों, अवश्य उपयोग करना चाहिए। जीवों की हिंसा पाप है, और बुद्ध ने इसका निषेध किया है।

यह निषेध सबसे अधिक महत्त्व रखता है, और हिंसा को सब पापों में सबसे मुख्य ठहराया गया है।

प्रत्येक व्यक्ति के लिए उचित है कि वह जल की परीक्षा के लिए एक बर्तन रक्खे, और प्रत्येक स्थान में एक जीव-रक्षक पात्र होना चाहिए।

[८]

दातुन का उपयोग

प्रतिदिन सबेरे मनुष्य को दातुन से दाँतों को साफ़ करना चाहिए, और जीभ का मैल उतार डालना चाहिए। हाथों को धोने और मुँह को साफ़ करने के बाद ही मनुष्य प्रणाम करने के योग्य होता है; अन्यथा प्रणाम करनेवाला और जिसको वह प्रणाम करता है, दोनों दोषी ठहरते हैं। दातुन कोई बारह अंगुल लम्बी बनाई जाती है, और छोटी से छोटी भी आठ अंगुल से कम नहीं होती। इसका आकार कनीनिका का ऐसा होता है। यदि दातुन करते-करते किसी को लाचार आश्रम-गुरु के पास आना पड़े, तो उसे बायें हाथ से मुँह को ढाँप लेना चाहिए।

दातुन के अतिरिक्त लोहे अथवा ताँबे की बनी हुई दन्त-खोदनी (खड़का) का भी उपयोग किया जा सकता है, अथवा बाँस या लकड़ी की छोटी-सी छड़ी, जो कनीनिका के उपरिभाग के समान चपटी और एक सिरे पर तीक्ष्ण हो, दाँतों और जीभ को साफ़ करने के उपयोग में लाई जा सकती है; इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि मुँह में कोई घाव न लग जाय। सेवन कर चुकने के बाद उसको धोकर फेंक देना चाहिए।

दातुन को नष्ट करने अथवा जल या थूक को मुँह से बाहर फेंकने के पहले कण्ठ में तीन बार उँगलियाँ फेर लेनी अथवा दो से अधिक बार खाँस लेना चाहिए।

छोटे भिक्षु जैसे भी चाहें दातुन को चबा सकते हैं, परन्तु बड़े भिक्षुओं को चाहिए कि उसे कूटकर कोमल कर लें। सबसे अच्छी दातुन वह है जो स्वाद में कटु, संकोचक अथवा तीक्ष्ण हो, अथवा जो चबाने से रूई की तरह हो जाय। दातुन को पूरी तरह से चबाने, दाँतों को साफ़ करके चमकाने और मुख से निकलनेवाले सारे पानी को बाहर थूकने का खूब ध्यान रक्खो; और फिर बहुत-से जल के साथ कुल्ले कर डालो। रीति यह है। एक बार नाक से पानी अन्दर ले जाओ। यह बोधिसत्त्व नागार्जुन का [illegible] किया हुआ दीर्घायु-प्राप्ति का साधन है। यदि यह क्रिया बहुत कठिन हो तो जल पीना भी अच्छा है। जब मनुष्य को इन क्रियाओं का अभ्यास हो जाता है तब उस पर रोग का आक्रमण कम होता है। दाँतों की जड़ों पर [illegible] प्रभाव से जमे हुए मैल को पूरी तरह से साफ़ कर देना चाहिए। गरम पानी से धोने से दाँत आयु भर के लिए मैल से मुक्त हो जाते हैं। दातुन करने के कारण भारत में दन्तशूल बहुत कम होता है।

चीन में कुछ लोग बेंत की छोटी-छोटी लकड़ियों का व्यवहार करते हैं। उन्हें वे सारी की सारी चबा डालते हैं, पर उन्हें कुल्ला करने और रस को फेंकने की रीति का कुछ भी ज्ञान नहीं। कभी-कभी यह समझा जाता है कि दातुन के रस को पीने से रोग की शान्ति हो सकती है। परन्तु इसे पीने से मनुष्य, अपनी शुद्धि की अभिलाषा के विपरीत, अपवित्र हो जाता है। यद्यपि उसकी इच्छा रोग से छुटकारा पाने की होती है, परन्तु वह उससे भी बड़े रोग में फँस जाता है। भारत के पाँच खण्डों के लोगों में दातुन का करना बिलकुल सामान्य बात है। यहाँ तक कि तीन बरस के बालकों को भी दातुन करना सिखाया जाता है।

[९]

उपवसथ*-दिवस पर भोज के नियम

मैं भारत तथा दक्षिणी सागर के द्वीपों में, भिक्षुओं को भोजन के लिए निमन्त्रित करने की प्रक्रिया का संक्षेप से वर्णन करूँगा। भारत में अतिथि-सेवक पहले भिक्षुओं के पास आता है, और प्रणाम करके उन्हें पर्व पर निमंत्रण देता है। उपवसथ के दिन वह उन्हें 'यह ठीक समय है' कहकर सूचना देता है।

भिक्षुओं के लिए ताँबे के बर्तनों का ही उपयोग किया जाता है। ये बारीक राख से रगड़कर साफ़ कर दिये जाते हैं। मिट्टी के कोरे बर्तनों का एक बार उपयोग करना अनुचित नहीं। उनका उपयोग हो चुकने पर उन्हें एक खाई में फेंक देना चाहिए, क्योंकि उपयोग में आये हुए (मूलार्थतः 'छुए हुए') बर्तनों को बिलकुल नहीं सुरक्षित रखना चाहिए। फलतः भारत में, जहाँ-जहाँ सड़क के किनारे सदाव्रत हैं, वहाँ, फेंके हुए बर्तनों के ढेर लगे रहते हैं, और इनका दुबारा उपयोग नहीं किया जाता।

दानपति के घर में भोजन करने की कोठरी की भूमि गाय के गोबर से लीप दी जाती है, और नियमित अन्तरों पर छोटी-छोटी कुरसियाँ बिछाई जाती हैं; और एक साफ़ ठिलिया में बहुत-सा जल तैयार किया जाता है। भिक्षुगण आकर पहले अपने कंचुकों के बोताम खोलते हैं। सबके सामने साफ़ लोटे रक्खे होते हैं। वे जल की परीक्षा करते हैं। यदि उसमें कोई कीड़ा न हो तो वे उससे पाँव धोकर उन छोटी कुरसियों पर बैठ जाते हैं। वे कुछ समय तक विश्राम करते हैं। तब दानपति, समय देखकर और यह मालूम करके कि सूर्य अब

---

* अर्थात् उपवास का दिन। यह भिक्षुओं और उनके भक्तजन के लिए धर्म्मानुष्ठान और कीर्तन का दिन है और यह एक त्योहार है।

प्राय: खमध्य पर पहुँच गया है, यह घोषणा करता है—'यह ठीक समय है।' तब प्रत्येक भिक्षु अपने कंचुक को दोनों कोनों से लपेटकर और अपने अंचल के दायें कोने को लेकर, कमर के साथ बाईं ओर पकड़ लेता है। भिक्षुगण मटर के चूर्ण अथवा बारीक मिट्टी से रगड़कर हाथ साफ़ करते हैं। तब वे अपने स्थानों पर वापस आ जाते हैं। तत्पश्चात् अतिथियों को भोजन के बर्तन बाँटे जाते हैं। भोजन के पहले ईश-प्रार्थना करने की रीति नहीं। दानपति (इस समय तक) हाथ-पाँव धोकर आसनों की पंक्ति के ऊपरी सिरे पर महात्माओं (अर्हतों की प्रतिमाओं) को चढ़ावा चढ़ाता है। तत्पश्चात् वह भिक्षुओं को भोजन बाँटता है। पंक्ति के सबसे निचले सिरे पर माता, हारिती को भोजन चढ़ाया जाता है।

हारिती चार दिव्य राजाओं* की प्रजाओं में से एक है। उसमें धन-प्रदान करने की शक्ति है। जो लोग अपनी शारीरिक निर्बलता के कारण सन्तानहीन हैं, वे यदि भोजन का चढ़ावा चढ़ाकर, (सन्तान के लिए उससे प्रार्थना करें) तो उनकी मन:कामना सदा पूर्ण हो जाती है। इसका पूरा वृत्तान्त विनय में दिया गया है।

अपरञ्च भारत के बड़े-बड़े विहारों में, पाकशाला में स्तम्भ के पार्श्व पर, अथवा उसारे के सम्मुख, लकड़ी में खुदी हुई एक देवता की दो-तीन फ़ुट ऊँची मूर्ति होती है। इसके हाथ में सोने की एक थैली होती है। इसका मुखमण्डल काला हो जाता है, और यह देवता महाकाल कहलाता है। प्राचीन ऐतिह्य कहता है कि यह (स्वर्ग में) महेश्वर के प्राणियों में से था। वह स्वभावत: 'तीन रत्नों' से प्रेम और विपत्ति से पाँच परिषदों† की रक्षा करता है। उसके उपासकों की सभी कामनायें पूर्ण हो जाती हैं।

---

* चतुर्महाराजदेवा: (चातुम्महाराजिका देवा), महावग्ग।

† पाँच परिषद् ये हैं—(१) भिक्षु, (२) भिक्षुणी, (३) शिक्षमाणा, (४) श्रमणेर, (५) श्रमणेरी।

भोजन के समय पाकशाला में काम करनेवाले धूप और दीप चढ़ाते हैं, और सब प्रकार के तैयार किये हुए भोजन देवता के सामने सजाते हैं। मैं एक बार पन्दन* विहार (बन्धन) देखने गया था। वहां सामान्यतः एक सौ से अधिक भिक्षु भोजन किया करते हैं। एक बार, कोई दुपहर के समय, वहाँ सहसा पांच सौ भिक्षु आ पहुँचे। उनके लिए दुपहर से ठीक पहले भोजन तैयार करने के लिए समय न था। विहार के एक नौकर की माता ने तत्काल बहुत-सी धूप जलाई और काले देवता के सामने भोजन चढ़ाकर उससे प्रार्थना की—'यद्यपि महामुनि निर्वाण को प्राप्त हो चुका है, परन्तु तेरे जैसे प्राणी अभी तक मौजूद हैं। अब इस पवित्र स्थान की पूजा के लिए यहां प्रत्येक स्थान से भिक्षुगण पधारे हैं। हमारा भोजन उनके लिए कम न निकले; क्योंकि यह तेरी शक्ति में है। कृपा करके इस समय को मनाइए।' तब सब भिक्षुओं को बिठला दिया गया। भोजन उस भारी भिक्षु-समूह के लिए पर्याप्त निकला, और सामान्य रूप से जितना पहले बचा करता था उतना बच भी रहा। मैं स्वयं उस स्थान की पूजा के लिए वहाँ गया; इसलिए मैंने उस काले देवता की प्रतिमा देखी जिसके सामने भोजन की प्रचुर भेंट चढ़ाई गई थी। (गया के समीप) महाबोधि विहार के नाग महामुचिलिन्द† में ऐसी ही अलौकिक शक्ति है।

भोजन परोसने की विधि आगे दी जाती है। पहले कोई अँगूठे के परिमाण के अदरक के एक-एक या दो-दो टुकड़े (प्रत्येक अतिथि को) परोसे जाते हैं और साथ ही एक पत्ते पर डेढ़-डेढ़ चमचे भर नमक दे दिया जाता है। जो मनुष्य नमक परोसता है वह, हाथ जोड़े हुए प्रधान भिक्षु के सम्मुख घुटनों के बल झुककर, धीरे से कहता है 'सम्प्रागतम्'!

---

* कुशिनगरान्तर्गत मुकुट-बन्धन का एक विहार।

† महावग्ग में लिखा है कि मुचिलिन्द बुद्ध की रक्षा करने तथा उनका उपदेश सुनने आता था।

इसका अनुवाद है 'शुभागमन'। अब प्रधान भिक्षु कहता है—'समान रूप से भोजन परोसो।'

भोजन परोसनेवाला अतिथियों के सामने खड़ा होकर, जिनके पैर एक पंक्ति में होते हैं, सत्कारपूर्वक प्रणाम करता है, और हाथों में भोजन-पात्र, मीठी रोटियां और फल लेकर भिक्षु के हाथों से कोई एक बितस्ति (ऊपर) से उन्हें परोसता है। प्रत्येक दूसरा बर्तन अथवा भोजन अतिथि के हाथों से एक या दो इंच ऊपर से देना चाहिए। यदि कोई वस्तु अन्यथा परोसी जाय तो अतिथियों को चाहिए कि उसे स्वीकार न करें। भोजन के परोसे जाते ही अतिथि खाना आरम्भ कर देते हैं; उन्हें इस बात का कष्ट नहीं उठाना चाहिए कि जब तक सबको समानरूप से भोजन न परोसा जाय तब तक प्रतीक्षा करते रहें।

फिर सुखाये हुए चावल और लोबिए के झोर की बनी हुई कुछ लपसी छाछ की गरम चटनी के साथ स्वाद के लिए परोसी जाती है। इसे दूसरे भोजन के साथ उँगलियों से मिलाया जाता है। वे (अतिथि) दायें हाथ से खाते हैं। इसे वे पेट के मध्य भाग से ऊंचा नहीं उठाते। अब रोटियाँ, फल, घी और कुछ खाँड़ परोसी जाती हैं। यदि किसी अतिथि को प्यास लगे तो वह, गरमी हो या सरदी, ठंडा जल पीता है। दैनिक जीवन तथा विशेष सत्कार के अवसर पर भिक्षुओं के खाने का यह संक्षिप्त वर्णन है।

उपवसथ-दिवस ऐसे समारोह से मनाया जाता है कि सब थालियाँ और रकाबियां रोटियों से भर दी जाती हैं और चावल अलग बच रहते हैं; घी और मलाई जितनी चाहो खा सकते हो।

बुद्ध के समय में राजा प्रसेनजित् ने संघ को भोजन के लिए निम-न्त्रण दिया था। उस समय पेय, आहार घी, मलाई इत्यादि इतने ज़ियादा परोसे गये थे कि वे बहुतायत से भूमि पर बह रहे थे।

जो मनुष्य निर्धन होता है वह, भोजन के अनन्तर, अपनी सामर्थ्य के अनुसार छोटी-छोटी चीजों का दान करता है। भोजन खा चुकने के

पश्चात् थोड़े से पानी से कुल्ला किया जाता है, जिसे पी लेना चाहिए। दायें हाथ को तनिक धोने के लिए बासन में कुछ जल अवश्य डाल रखना चाहिए। हाथ धो चुकने के पश्चात् मनुष्य भोजन करने के स्थान से जा सकता है। वहाँ से बाहर निकलते समय, दूसरों को देने के लिए, उसे बायें हाथ में मुट्ठी भर भोजन लाना चाहिए। बुद्ध ने इसकी आज्ञा दी है, चाहे यह भोजन बुद्ध का हो, चाहे संघ का। परन्तु खाने से पूर्व भोजन के देने का विधान विनय में नहीं। इसके अतिरिक्त भोजन का एक थाल मृतकों और अन्य आत्माओं को, जो भेंट दिये जाने के योग्य हों, चढ़ाया जाता है। इस रीति का मूल गृध्रकूट बताया जाता है जैसा कि सूत्रों में पूर्ण रूप से वर्णित है।

उस मुट्ठी भर भोजन को स्थविर के सामने लाकर उसे प्रणाम करना चाहिए। वह स्थविर जल की कुछ बूँदें छिड़ककर निम्नलिखित प्रार्थना करे—

'जो धर्म्म-कार्य हम करनेवाले हैं उनके बल से हम प्रेतलोक को उदारता-पूर्वक लाभ पहुँचावें, और वे प्रेत, इस भोजन को खाकर, मृत्यु के अनन्तर सुखद अवस्था में पुनः जन्म लें।'

तत्पश्चात्, भोजन को बाहर लाकर, मृतकों को देने के लिए, किसी गुप्त स्थान, वन, कुंज, नदी अथवा सरोवर में डाल देना चाहिए।

इस प्रक्रिया के समाप्त हो जाने पर दानपति अतिथियों को दातुनें और शुद्ध जल देता है।

यदि दानपति पसन्द करे तो संगीत—ढोल और सारङ्गी के साथ गीत गाना—भी होता है। तब जैसे-जैसे प्रत्येक को भोजन परोसा जाता है वह खाना आरम्भ करता जाता है; और जब वह समाप्त हो जाता है तब प्रत्येक अतिथि के सामने एक बासन में लोटे से जल डाला जाता है। अब स्थविर दानपति के लिए एक छोटी-सी दान-गाथा सुनाता है। यह शेषोक्त बात भारत में (उपवास के दिन) भोजन का चढ़ावा लेने की वैकल्पिक रीति है।

अब मैं विनय के नियमों के अनुसार भोजन करने की सामान्य विधि का स्थूल वर्णन करना चाहता हूँ।

पंचभोजनीयम् और पंचखादनीयम् का विनय में बहुत बार उल्लेख है। भोजनीयम् का अर्थ है वह वस्तु जिसे निगलना और खाना पड़ता है (अर्थात् गीला और कोमल भोजन), और खाद-नीयम् का अर्थ है वह वस्तु जिसे चबाना या पीसना पड़ता है (अर्थात् कड़ा और ठोस भोजन)। पंचभोजनीयम् ये हैं—१. चावल; २. जौ और मटर की उबली हुई खिचड़ी; ३. भुना हुआ मक्की का आटा; ४. मांस; ५. मीठी रोटियाँ। पंचखादनीयम्—१. मूल; २. डण्ठल; ३. पत्ते; ४. फूल; ५. फल। यदि पाँच का पहला समूह (अर्थात् पंचभोजनीयम्) खा लिया जाय तो फिर उन लोगों को जिनके पास और अधिक भोजन करने के लिए कोई कारण नहीं, किसी प्रकार भी पाँचों का दूसरा समूह न खाना चाहिए, परन्तु यदि पिछले पाँच पहले खा लिये हों तो अपनी इच्छा के अनुसार मनुष्य पहले पाँच भी खा सकता है।

दूध, मलाई इत्यादि को उपर्युक्त पाँच के दो समूहों के अतिरिक्त गिन सकते हैं; क्योंकि विनय में इनके लिए कोई विशेष नाम नहीं, और यह स्पष्ट है कि ये विशेष भोजन के अन्तर्गत नहीं।

आटे की बनी हुई जो भी चीज (जैसा कि गुलगुले अथवा लपसी) यदि इतनी कड़ी हो कि उसमें डाला हुआ चमचा बिना किसी ओर झुके सीधा खड़ा रहे तो उसे रोटियों और भात के अन्तर्गत रखना चाहिए। पानी के साथ मिलाये हुए, भुने हुए, आटे पर यदि उँगली का चिह्न बन सकता है तो उसका भी पाँच में से एक में समावेश है।

अब भारत के पाँच देशों को लीजिए। उनकी सीमायें लम्बी-चौड़ी और दूर हैं। स्थूल रूप से कहें तो मध्य भारत से प्रत्येक दिशा में सीमा तक की दूरी (मूलार्थतः, पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर)

कोई ४०० योजन है। इस माप में दूरस्थ सीमाप्रान्त नहीं गिना गया। यद्यपि मैंने स्वयं भारत के ये सब भाग नहीं देखे, फिर भी मैं सावधानता-पूर्वक अन्वेषण करने से प्रत्येक बात जाँच सकता था।

सारा भोजन, खाने के लिए और क्या क्या चबाने के लिए, बड़ी उत्तमता से नाना विधियों से तैयार किया जाता है। उत्तर में गेहूँ का आटा बहुत होता है; पश्चिमी प्रदेश में सबसे अधिक सेंका हुआ आटा (चावल या जौ का सत्तू) बर्ता जाता है। मगध में गेहूँ का आटा बहुत कम परन्तु चावल बहुतायत से होता है। दक्षिणी सीमान्त प्रदेश और पूर्वी उपान्त्य-भूमि की उपज वही है जो कि मगध की।

घी, तेल, दूध और मलाई सब कहीं मिलती है। मीठी रोटियों और फलों जैसी वस्तुओं की इतनी प्रचुरता है कि उनका यहाँ गिनना कठिन है। यहाँ मीठा ख़रबूज़ा और तरबूज़ होता है; गन्नों और आलू-कचालू आदि भूमि के भीतर लगनेवाले खाद्य पदार्थों की बहुतायत है।

भारत के पाँचों भागों में कोई भी लोग किसी प्रकार का प्याज़, अथवा कच्ची तरकारियाँ नहीं खाते, इसलिए वे अजीर्ण से बचे रहते हैं; उनका आमाशय और अँतड़ियाँ नीरोग रहती हैं और उनके कड़ी हो जाने या दुखने का कोई कष्ट नहीं होता।

दक्षिणी सागर के दस द्वीपों में उपवास के दिन एक बड़े परिमाण में आतिथ्य किया जाता है। पहले दिन दानपति पिन-लङ्ग सुपारी, फ़ू द्जू (मुस्तक) से बनाया हुआ सुगन्धित तेल, और एक थाली में पत्ते पर पिसे हुए थोड़े-से चावल तैयार करता है। इन तीनों चीज़ों को एक बड़ी पटरी पर चुनकर एक सफ़ेद वस्त्र से ढँक दिया जाता है। एक सुनहरे लोटे में जल डालकर रख लिया जाता है, और इस पटरी के सामने की भूमि पर जल छिड़क दिया जाता है। ये सब बातें हो जाने पर भिक्षुओं को भोजन के लिए बुलाया जाता

है। अन्तिम दिन दोपहर के पहले भिक्षुओं को शरीर पर तेल मलने और धोने तथा स्नान करने के लिए कहा जाता है। दूसरे दिन के अश्न-समय (मध्याह्न) के पश्चात् (विहार से) गाड़ी अथवा पालकी पर एक पवित्र प्रतिमा ले जाई जाती है। इसके साथ भिक्षुओं और सामान्य लोगों का एक बड़ा समूह ढोल और बाजे बजाता, धूप और पुष्प चढ़ाता और धूप में चमकते हुए झण्डे हाथों में लिये चलता है। इस प्रकार इसे घर के आँगन में पहुँचाया जाता है। एक बड़े विस्तीर्ण छत्र के नीचे, चमकीली और सुचारु रूप से अलङ्कृत सोने अथवा काँसे की प्रतिमा पर कोई सुगन्धित लेई (उबटन) मली जाती है। फिर इसे एक साफ़ बासन में रख दिया जाता है। जितने लोग वहाँ उपस्थित होते हैं वे सब इसे सुगन्धित जल (गन्धोदक) से स्नान कराते हैं। सुगन्धित वस्त्र से पोंछने के पश्चात् इसे घर के मुख्य दालान में पहुँचाया जाता है। वहाँ इसे प्रचुर धूप और दीप चढ़ाया जाता है और स्तुति के भजन गाये जाते हैं। तब भविष्य जीवन के सम्बन्ध में धार्म्मिक भोज के पुण्य को प्रकट करने के लिए स्थविर दानपति के लिए दान-गाथा सुनाता है। फिर भिक्षुओं को हाथ धोने तथा कुल्ला करने के लिए घर से बाहर ले जाया जाता है, और, इसके अनन्तर, उन्हें शर्बत (पान) और पिन-लङ्ग फल (अर्थात् सुपारी) यथेष्ट परिमाण में दिये जाते हैं; तब वे उस घर से वापस चले आते हैं। तीसरे दिन के पूर्वाह्न में, दानपति, विहार को जाते हुए, भिक्षुओं से कहता है—'यह ठीक समय है।' वे, स्नान करने के बाद, भोजवाले घर में आते हैं। इस समय भी मूर्ति स्थापित की जाती है और इसको स्नान कराने की प्रक्रिया अधिक संक्षेप से पूरी की जाती है। परन्तु धूप तथा पुष्पों का चढ़ावा और संगीत पहले दिन से दुगुना होता है। प्रतिमा के सामने नाना प्रकार के चढ़ावे यथाक्रम सजाये जाते हैं, और उसके दोनों ओर पाँच या दस कन्यायें पंक्ति खड़ी होती हैं। सुभीते के अनुसार कुछ लड़के भी खड़े किये जाते हैं। इनमें से प्रत्येक के पास या तो धूप

जलाने का पात्र होता है, या सुनहरा जल-पात्र, या दीपक अथवा कुछ सुन्दर पुष्प, या सफ़ेद चँवर होता है। लोग सब प्रकार की शृङ्गार की वस्तुएँ लाकर बुद्ध की मूर्त्ति के सामने चढ़ाते हैं। एक बार मैंने उनसे पूछा—'आप यह किस प्रयोजन से कर रहे हैं?' उन्होंने उत्तर दिया—'यह क्षेत्र है, और हम अपने पुण्य का बीज बो रहे हैं। यदि हम अब चढ़ावा नहीं चढ़ायेंगे, तो भविष्य में पुण्य का फल कैसे प्राप्त कर सकेंगे?' यह युक्तिपूर्वक कहा जा सकता है कि ऐसा काम भी पुण्य-कर्म ही है। फिर अनुरोध करने पर, एक भिक्षु मूर्त्ति के सामने घुटनों के बल बैठकर बुद्ध-गुण-गान करता है। इसके बाद, अनुरोध करने पर, दो और भिक्षु, मूर्त्ति के निकट बैठकर एक पृष्ठ अथवा पत्ते पर से एक छोटा-सा सूत्र पढ़ते हैं। ऐसे अवसरों पर, वे कभी-कभी मूर्त्तियों की प्रतिष्ठा करते, और उनकी आँखों की पुतलियों का चिह्न लगाते हैं, ताकि इसके फल से उन्हें आनन्द की प्राप्ति हो। अब भिक्षुगण स्वेच्छा से कमरे के एक पार्श्व में चले जाते हैं। वहाँ अपने काषायों को लपेटकर उनके दोनों कोनों को छाती पर बाँध लेते हैं। फिर वे हाथ धोकर खाने के लिए बैठ जाते हैं।

वे बहुधा पत्तों को इकट्ठा सीकर उनसे थालों का काम लेते हैं। ये पत्तलें आधी चटाई (जिस पर वे बैठते हैं) जितनी चौड़ी होती हैं। वे ऐसी ही पत्तलें बनाकर भिक्षुओं के सामने चढ़ाते हैं। तब उन्हें बीस या तीस प्रकार के भोजन परोसे जाते हैं। परन्तु यह अपेक्षाकृत निर्धन लोगों के दिये हुए भोज की बात है। यदि भोज देनेवाले राजा अथवा धनाढ्य मनुष्य हों तो काँसे की थालियाँ, काँसे के कटोरे और चटाई जितनी बड़ी पत्तलें बाँटी जाती हैं; और नाना प्रकार की खाने-पीने की वस्तुओं की संख्या सौ तक पहुँच जाती है। ऐसे अवसर पर राजा लोग अपने उच्च पद की कुछ परवा नहीं करते, और अपने आपको सेवक कहते हैं और सब

तरह से सम्मान प्रदर्शित करते हुए भिक्षुओं को भोजन कराते हैं। भोजन जितना दिया जाय उतना भिक्षुओं को स्वीकार करना पड़ता है। वह कितना ही अधिक क्यों न हो, वे उसे रोक नहीं सकते। यदि वे केवल उतना ही भोजन लेंगे जितना कि उनकी क्षुधानिवृत्ति-मात्र के लिए पर्याप्त हो, तो दानपति प्रसन्न न होगा; क्योंकि उसे संतोष तभी होता है जब वह आवश्यकता से बहुत बढ़कर भोजन परोसा हुआ देखता है।

भिक्षुओं के खा चुकने और हाथ-मुँह धो चुकने के अनन्तर उच्छिष्ट भोजन वहाँ से उठा दिया जाता है और भूमि को साफ़ करके उसपर फूल बिखेर दिये जाते हैं। बाद को दीपोत्सव किया जाता है और वायु को सुगन्धित करने के उद्देश्य से धूप जलाया जाता है, साथ ही भिक्षुओं को जो कुछ देना हो वह उनके सामने सजाकर रख दिया जाता है। अब, दू-वृक्ष (प्रयन्न बीज) के फल के परिमाण के लगभग, सुगंध की लेई प्रत्येक को दी जाती है। वे उसे हाथों में मल लेते हैं जिससे वे स्वच्छ और सुवासित हो जायँ। फिर कुछ पिन-लङ्ग फल (सुपारी) और जायफल, लौंगों और कपूर के साथ मिलाकर, बाँटे जाते हैं। इनको खाने से उनका मुख सुगन्धित हो जाता है, भोजन पच जाता है, और कफ दूर हो जाता है। ये आरोग्यजनक वस्तुएँ और अन्य पदार्थ, शुद्ध जल में धोकर और पत्तों में लपेटकर, भिक्षुओं को दिये जाते हैं।

अब दानपति स्थविर के पास आकर, अथवा (सूत्र) पढ़नेवाले के सम्मुख खड़ा होकर, कुण्डी के चोंचदार मुख से एक बासन में जल डालता है, जिससे ताँबे की एक पतली छड़ी के सदृश जल लगातार निकलता है। भिक्षु दान-गाथायें मुँह में पढ़ता है। उसके हाथ में पुष्प होते हैं और उन पर जल गिरता है। पहले, बुद्ध के शब्दों के श्लोक पढ़े जाते हैं, तत्पश्चात् दूसरे लोगों के बनाये हुए। श्लोकों की संख्या, पढ़नेवाले की इच्छा अथवा अवस्थाओं के अनुसार, थोड़ी अथवा अधिक हो सकती है। तब पुरोहित, दानपति का नाम लेकर,

उसके सुख के लिए प्रार्थना करता है, और उस समय किये हुए शुभ कर्मों का पुण्य-फल मृतकों, राजाओं, नागों तथा प्रेतों को देने की कामना करता है, और प्रार्थना करता है कि 'देश में उत्तम फ़सलें हों, मनुष्य और अन्य प्राणी सुखी हों; शाक्य की श्रेष्ठ शिक्षा चिरस्थायी हो।' ये स्वयं जगत्-पूज्य (बुद्ध) के दिये हुए आशीर्वाद हैं। पुण्यात्मा (बुद्ध) ने हमें आज्ञा दी है कि दानपति के आतिथ्य का पुरस्कार देने के लिए भोजन के अनन्तर हमें एक-दो दान-गाथायें पढ़नी चाहिए। यदि हम इसकी उपेक्षा करते हैं तो पवित्र नियमों के विरुद्ध चलते हैं, और दिये हुए भोजन को खाने के अधिकारी नहीं।

एक और रीति है, जिसका प्रचार मध्यम स्थिति की जनता में है। पहले दिन, भिक्षुओं को निमन्त्रित करके उन्हें सुपारी दी जाती है; दूसरे दिन, तीसरे पहर बुद्ध की मूर्त्ति को स्नान कराया जाता है, दोपहर के समय भोजन किया जाता है, और सायंकाल सूत्र पढ़े जाते हैं। इसके अतिरिक्त एक और भी रीति है, जिसका प्रचार दरिद्र लोगों में है। पहले दिन, दानपति भिक्षुओं को दातुनें भेंट करता और उन्हें भोजन के लिए निमन्त्रण देता है; दूसरे दिन, वह केवल भोजन तैयार करता है। या कभी-कभी दानपति जाकर भिक्षुओं को प्रणाम करता और उन्हें दान दिये बिना ही भोजन के लिए बुलाने की इच्छा प्रकट करता है।

यद्यपि भिन्न-भिन्न देशों में उपवसथ-दिवस की प्रक्रियायें साधारण परिपाटी और भोजन में इतनी भिन्न-भिन्न हैं, फिर भी संघ की व्यवस्था, पवित्रता की रक्षा, उँगलियों से भोजन करने की रीति, और अन्य सारे नियम बहुत कुछ वही हैं। संघ के कुछ भिक्षु कई एक धूताङ्गों (अर्थात्, भिक्षुओं के लिए दैनिक जीवन के विशेष नियमों) का अभ्यास करते हैं, जैसा कि भिक्षा पर निर्वाह करना और केवल तीन कपड़े धारण करना (अर्थात् पैण्डपातिकाङ्ग और त्रैचीवरिकाङ्ग)। ऐसा भिक्षु कोई निमन्त्रण स्वीकार नहीं करता, और स्वर्ण जैसे

बहुमूल्य पदार्थों के दान को थूक के समान समझकर उसकी कुछ परवा नहीं करता, और किसी एकाकी वन में छिपकर रहता है।

ये नियम गुरुदेव के आदेश हैं, और मनुष्य को हर तरह से उनका पालन तथा अनुष्ठान करना चाहिए। परन्तु इसके विपरीत कुछ लोग ऐसे हैं जो असावधानी से अपने आपको निष्पाप समझते हैं, और जो यह नहीं जानते कि खाने से अशौच पैदा हो जाता है।

कुछ लोग व्यभिचारसम्बन्धी एक-आध आज्ञा का पालन करने से ही कहते हैं कि हम पाप से मुक्त हैं। परन्तु उन्हें यह विदित नहीं कि प्रत्येक आहार, अधर्म्य होने पर, नरक में पसीना बहाने का कष्ट देता है; उन्हें यह मालूम नहीं है कि भूल से उठाये हुए प्रत्येक पग के परिणाम से मनुष्य को विद्रोही के रूप में जीने का क्लेश सहना पड़ता है।

बोधिसत्त्व का मूल-संकल्प वायु के थैले को (जो कि भवसागर में पड़े हुए सभी प्राणियों को दिया गया है) कसकर रखना है जिससे वह टपकने न पावे। अपने छोटे-से-छोटे अपराध पर भी यदि हम आँख खोले रहें तो इस घोषणा को कि यह जन्म अन्तिम है, पूर्ण कर सकते हैं। छोटे-छोटे अपराधों को रोककर और शून्यवाद का चिन्तन करके, हम दयालु पूज्यदेव की शिक्षा के अनुसार महायान और हीन-यान दोनों सम्प्रदायों का अनुष्ठान युक्तिसङ्गत रीति से कर सकते हैं।

बुद्ध की शिक्षा का प्रचार संसार में दिन पर दिन कम हो रहा है। मैंने अपने बाल्य-काल में जो कुछ देखा था उसकी तुलना जब मैं उसके साथ करता हूँ जो कुछ कि मैं आज अपनी वृद्धावस्था में देख रहा हूँ तब अवस्था बिलकुल भिन्न मालूम होती है, और हम इसकी साक्षी दे रहे हैं। आशा है कि भविष्य में हम अधिक सावधान रहेंगे।

खाने और पीने की आवश्यकता चिरस्थायी है, परन्तु जो लोग बुद्ध का पूजन और सेवन करते हैं उन्हें उसकी श्रेष्ठ शिक्षा की किसी भी बात की कभी उपेक्षा न करनी चाहिए।

मैं फिर कहता हूँ—बुद्ध के अस्सी सहस्र वादों में से केवल दो-एक ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हैं; मनुष्य को सांसारिक मार्ग के अनुकूल होना, परन्तु भीतर से सच्ची प्रज्ञा प्राप्त करने का यत्न करते रहना चाहिए। अच्छा, अब वह सांसारिक मार्ग क्या है? यह है निषेधात्मक नियम का पालन करना और प्रत्येक प्रकार के पाप से बचना। सच्ची प्रज्ञा क्या है? यह है विषयी और विषय के बीच के भेद-भाव को मिटा देना, उत्कृष्ट सत्य पर चलना और अपने आपको सांसारिक आसक्ति से मुक्त करना; कारणत्व की लड़ी की वर्तमान बेड़ियों को फेंक देना; बहुत-से शुभ कर्मों का संग्रह करके धार्मिक पुण्य-लाभ करना, और अन्ततः पूर्ण तत्त्व के उत्कृष्ट अर्थ का अनुभव कर लेना। मनुष्य को न तो कभी त्रिपिटक से अनजान होना चाहिए, और न इसमें वर्णित सिद्धान्तों और शिक्षा से घबराहट में ही पड़ना चाहिए।

जो मनुष्य नित्यता की सचाई का अनुभव करना चाहता है उसे पवित्रता से नैतिक आदेशों का पालन करना चाहिए। मनुष्य को चाहिए कि छोटे-से दोष से भी बचता रहे क्योंकि, तैरने की मशक से थोड़ी-सी हवा निकल जाने के सदृश, इससे प्राण-हानि की सम्भावना है; मनुष्य को बड़े अपराध को रोकना चाहिए, क्योंकि वह मनुष्य के जीवन को निष्फल बना देता है। सारे बड़े-बड़े अपराधों में से मुख्य और प्रधान वे हैं जिनका सम्बन्ध भोजन और वस्त्र से है। बुद्ध की शिक्षा पर चलनेवाले के लिए मोक्ष बहुत दूर नहीं, परन्तु जो उन पवित्र वचनों की उपेक्षा करता है, उसके लिए पुनर्जन्म सदा बना रहता है।

[१०]

आवश्यक भोजन और वस्त्र

पार्थिव शरीर केवल भोजन और वस्त्र-द्वारा ही रक्खा जाता है, और आध्यात्मिक ज्ञान शून्यता के सिद्धान्त के द्वारा ही बढ़ाया

जा सकता है। यदि भोजन और आच्छादन का व्यवहार उचित नियमों के विरुद्ध हो तो पग-पग पर कोई न कोई अपराध होता रहेगा। इसलिए जो लोग मोक्ष की तलाश में हैं, उन्हें बुद्ध के श्रेष्ठ वाक्यों के अनुसार भोजन और आच्छादन का व्यवहार करना चाहिए।

इहलोक के जीवन की रक्षा करो, जो कि भूले-भटके लोगों के लिए कारागार-मात्र है, परन्तु निर्वाण-रूपी तट की ओर उत्सुकता से देखो, जो कि बोधि और विश्राम का मुक्त-द्वार है। धर्म-रूपी जहाज दुःख-रूपी समुद्र के लिए तैयार रखना चाहिए, और प्रज्ञा के दीपक को अन्धकार के दीर्घकाल में ऊपर उठा रखना चाहिए।

प्रव्रज्या के जीवन के लिए आच्छादन के नियम सबसे अधिक महत्त्व रखते हैं, इसलिए मैं यहाँ परिच्छद के ढंग का सविस्तर उल्लेख करता हूँ, क्योंकि इनकी उपेक्षा अथवा संक्षेप नहीं किया जा सकता। तीन परिच्छदों (चीवर) को लीजिए तो भारत के पाँचों खण्डों में थेगलियाँ सटी-सटी सी दी जाती हैं, परन्तु एक चीन में वे खुली रहती हैं और सी नहीं जातीं। मैंने स्वयं अन्वेषण किया है कि उत्तरीय देशों में (भारत से परे) कैसी रीति प्रचलित है। मुझे पता लगा है कि जहाँ-जहाँ चतुर्निकाय के विनय पर आचरण होता है, वहाँ सभी स्थानों में थेगलियाँ सटी-सटी सी दी जाती हैं।

मान लीजिए कि पश्चिम (अर्थात्, भारत) के किसी भिक्षु को चीन का चीवर मिलता है; वह सम्भवतः थेगलियों को सीकर फिर उसे धारण करेगा।

सभी निकायों की विनय-पुस्तकों में थेगलियों को सीने तथा बाँधने की आज्ञा है।

विनय में छः आवश्यक द्रव्यों (परिष्कारों) और तेरह अपरिहार्य वस्तुओं के सम्बन्ध में कड़े नियमों की पूरी-पूरी व्याख्या है। भिक्षु के छः परिष्कार आगे दिये जाते हैं—

१. संघाटी, जिसका अनुवाद "दुहरा कंचुक" किया जाता है।
२. उत्तरासङ्ग, जिसका अनुवाद "ऊपर का परिच्छद" किया जाता है।
३. अन्तर्वास, जिसका अनुवाद "भीतर का परिच्छद" किया जाता है।

ऊपर कहे गये तीनों चीवर कहलाते हैं। उत्तर के देशों में भिक्षुओं के ये कंचुक अपने गेरुवे रङ्ग के कारण प्रायः काषाय कहलाते हैं। परन्तु इस पारिभाषिक शब्द का विनय में व्यवहार नहीं हुआ।

४. पात्र।

५. निषीदन, अर्थात् बैठने अथवा लेटने के लिए कोई चीज़।

६. परिस्रावण, अर्थात् पानी की चालनी।

दीक्षार्थी के पास ये छः परिष्कार होने चाहिए।

तेरह अपरिहार्य वस्तुएं निम्नलिखित हैं—

१. संघाटी, एक दुहरा कंचुक।

२. उत्तरासङ्ग, ऊपर का परिच्छद।

३. अन्तर्वास, भीतर का परिच्छद।

४. निषीदन, बैठने अथवा लेटने की चटाई।

५. (निवासन), एक अन्तरीय वसन।

६. प्रतिनिवासन (एक दूसरा निवासन)।

७. सङ्कक्षिका, बग़ल को ढकनेवाला कपड़ा।

८. प्रति-सङ्कक्षिका (एक दूसरी सङ्कक्षिका)।

९. (काय-प्रोञ्छन), शरीर पोंछने का तौलिया।

१०. (मुख-प्रोञ्छन), मुंह पोंछने का तौलिया।

११. (केश-प्रतिग्रह), मूंड़ते समय बाल गिराने का कपड़ा।

१२. (कंडुप्रतिच्छादन), खुजली को ढाँपने का कपड़ा।

१३. (भेषजपरिष्कारचीवर), अर्थात् (आवश्यकता के समय) ओषधियों का मूल्य देने के लिए रक्खा हुआ कपड़ा।

यह एक गाथा-द्वारा इस प्रकार बताया गया है--

तीन चीवर, बैठने की चटाई (१, २, ३, ४)।

निवासनों और सङ्कक्षिकाओं का एक जोड़ा (५, ६, ७, ८)।

शरीर और मुख के लिए तौलिये, क्षौर के लिए कपड़ा (९, १०, ११)।

खुजली के लिए कपड़ा और औषध के लिए वास (१२, १३)।

प्रत्येक भिक्षु को ये तेरह अपरिहार्य वस्तुएँ रखने का अधिकार है।--यह एक प्रतिष्ठित नियम है, और बुद्ध की शिक्षा के अनुसार इनको उपयोग में लाना चाहिए। इसलिए इन तेरह को विलासिता की दूसरी सामग्री में नहीं रख देना चाहिए। इन वस्तुओं की नामावली अलग बननी चाहिए। इन पर चिह्न लगाना चाहिए, और इन्हें स्वच्छ और सुरक्षित रखना चाहिए।

इन तेरह में से जो-जो मिलें उन्हें रक्खो, परन्तु उन सबको लेने का कष्ट न करो। शेष सब विलासिता के कपड़े--जिनका उल्लेख ऊपर नहीं--इन अपरिहार्य वस्तुओं से भिन्न रखने चाहिए, परन्तु ऐसी चीजें, जैसा कि ऊनी सामग्री अथवा गलीचे लिये जा सकते और दानियों की इच्छा को स्वीकार करते हुए उपयोग में लाये जा सकते हैं।

ओषधियों का मूल्य चुकाने के लिए बुद्ध ने भिक्षु को जो कपड़ा रखने की आज्ञा दी है, वह कोई २० फ़ुट लम्बा, अथवा रेशम का एक पूरा थान होना चाहिए। सम्भव है, मनुष्य पर अकस्मात् रोग का आक्रमण हो जाय, और ओषधि की प्राप्ति का उपाय शीघ्र ही ढूँढ़ने पर मिलना कठिन हो। इस कारण एक फालतू कपड़ा

पहले से ही तैयार रखने का विधान था, और चूंकि बीमारी के समय इसकी आवश्यकता होती है, इसलिए और प्रकार से इसे प्रयोग में न लाना चाहिए।

बारीक और मोटे रेशम की आज्ञा बुद्ध ने दी है। यदि जान-बूझकर जीव-हत्या की जाय तो उस कर्म के फल की आशा रक्खी जायगी; परन्तु यदि जान-बूझकर न हो तो, बुद्ध के वचनानुसार, कोई पाप न लगेगा। तीन प्रकार के शुद्ध मांस ऐसे मांस ठहराये गये हैं, जिनके खाने में कोई पाप नहीं। यदि इस नियम के भाव की अवहेला की जायगी तो कुछ न कुछ अपराध, वह थोड़ा भले ही हो, अवश्य लगेगा।

(तीन प्रकार का मांस खाने में), हमारा हत्या का कोई सङ्कल्प नहीं होता, इसलिए हमारे पास एक ऐसा कारण अथवा हेतु है जो हमारे मांस-भक्षण को निष्पाप बना देता है।

ऐसे काम, जैसा कि रेशम के कीड़ों की कुसियारियाँ स्वयं जाकर माँगना, अथवा कीड़ों की हत्या होते देखना, उन लोगों का तो कहना ही क्या जो अन्तिम मोक्ष की आशा रखते हैं, सामान्य लोगों के लिए भी उचित नहीं। ये कर्म, इस दृष्टि से देखने पर, सर्वथा अनुचित सिद्ध होते हैं। परन्तु मान लीजिए कि कोई दानपति (कोई ऐसी वस्तु जैसे रेशमी कपड़ा) लाकर भेंट करता है और भिक्षु "अनुमत" कहकर उस दान को स्वीकार कर लेता है ताकि तपस्या में उसका शरीर बना रहे; तो इस कर्म से उसे कोई पाप नहीं लगता। भारत में भिक्षुओं के वस्त्र यों ही बे ठौर-ठिकाने टाँके और सिये जाते हैं, कपड़े के ताने-बाने पर कुछ ध्यान नहीं दिया जाता। उनके निर्माण में तीन या पाँच दिन से अधिक नहीं लगते।

रेशम के कीड़ों का नाम कौशेय है, और जो रेशम उनसे बनवाया जाता है वह भी कौशेय ही कहलाता है; यह बड़ी मूल्यवान् चीज है, और (नवेले के लिए) इसका उपयोग निषिद्ध है। नवेला

बनाने की दो विधियाँ हैं; एक विधि यह है कि कपड़े की थैली सीकर उसमें ऊन भर दिया जाता है, और दूसरी यह कि (सूत के) धागे (गदेले में) बुन दिये जाते हैं। गदेले का परिमाण दो हाथ चौड़ा और चार हाथ लम्बा होता है; यह ऋतु के अनुसार मोटा और पतला होता है। गदेले के लिए माँगने का निषेध है, पर यदि कोई दूसरा दे तो (उसके लेने में) कोई पाप नहीं, किन्तु इसके (वास्तविक) उपयोग के लिए (बुद्ध की) आज्ञा नहीं थी, और कड़े नियम सविस्तर बनाये गये थे। ये सब वस्तुएँ लेटने के लिए हैं, और वही चीज नहीं जो कि तीन कपड़े (अर्थात् त्रिचीवर) हैं।

फिर 'विनय' में वर्णित 'शुद्ध-वृत्ति' का अर्थ, सबसे बढ़कर, मनुष्य का खाना (मूलार्थतः, मुख और आमाशय) है। भूमि को जोतने का कार्य इसके योग्य रीति के अनुसार करना चाहिए (अर्थात्, अपने लिए भूमि-कर्षण की आज्ञा नहीं, परन्तु बौद्ध-संघ के निमित्त ऐसा करने की अनुमति है), परन्तु बोना और रोपना शिक्षा (मूलार्थतः, शिक्षा के जाल) के विरुद्ध नहीं। धर्मानुसार भोजन करने में कोई पाप नहीं, क्योंकि आरम्भ में कहा गया है कि 'चरित्रगठन से सुख बढ़ता है।'

विनय की शिक्षा के अनुसार, जब संघ अनाज का खेत जोते तब उपज का एक भाग विहार के नौकरों अथवा किसी दूसरे परिवारों को, जिन्होंने वास्तव में जोतने का काम किया है, दिया जाना चाहिए। प्रत्येक उपज को छः भागों में बाँटना चाहिए, और छठा भाग संघ बटोर ले; संघ को बैल और खेती के लिए भूमि देनी होती है, फिर संघ और किसी वस्तु के लिए उत्तरदाता नहीं। कभी-कभी उपज की बाँट में ऋतुओं के अनुसार परिवर्तन कर देना चाहिए।

पश्चिम के बहुत-से विहारों में उपर्युक्त रीति प्रचलित है, परन्तु कुछ लोग बड़े लालची हैं और उपज को नहीं बाँटते, किन्तु भिक्षुगण स्वयं ही, क्या पुरुष और क्या स्त्री, सब नौकरों को काम

बाँट देते हैं, और देखते रहते हैं कि खेती का कार्य यथोचित रूप से हो रहा है।

जो लोग धार्मिक उपदेश के अनुसार आचरण करते हैं वे ऐसे लोगों का दिया हुआ भोजन नहीं खाते, क्योंकि यह समझा जाता है कि ऐसे भिक्षु काम की कल्पना आप तैयार करते हैं, और 'अशुद्ध वृत्ति' से अपना पोषण करते हैं; क्योंकि किराये के नौकरों को बलपूर्वक दबाने से मनुष्य के क्रोध में आ जाने की सम्भावना है, भूमि को जोतते समय बीजों के टूटने और बहुत-से जीवों की हिंसा का डर है। मनुष्य का दैनिक भोजन एक शङ्ग से अधिक नहीं, फिर उसकी प्राप्ति के यत्न में कौन सैकड़ों पापों को सह सकता है?

विनय के अनुसार, भिक्षु को संघ के लिए अर्थ-प्राप्ति की चेष्टा करने की आज्ञा है, परन्तु बुद्ध की शिक्षा में भूमिकर्षण और जीव-हिंसा की आज्ञा नहीं, क्योंकि कृमियों की हिंसा और उचित चेष्टा में रुकावट जितनी कृषि में होती है, उससे अधिक और किसी में नहीं।

जब मैं पहले-पहल ताम्रलिप्ति में गया तब मैंने विहार के बाहर एक चौक में इसके कुछ इजारेदार देखे, जिन्होंने वहाँ प्रवेश करके, कुछ तरकारियाँ तीन भागों में बाँटी थीं, और जो उन तीन भागों में से एक भाग भिक्षुओं को भेंट करके, शेष भाग लेकर, वहाँ से वापस आगये थे। मैं नहीं समझ सका कि वे क्या करते थे। मैंने पूज्यपाद तशङ्ग तअङ्ग (महायानप्रदीप) से अभिप्राय पूछा। उन्होंने उत्तर दिया—'इस विहार के भिक्षु प्रायः व्यवस्थाओं पर चलनेवाले हैं। क्योंकि महामुनि ने भिक्षुओं के लिए स्वयं खेती करने का निषेध किया है, इसलिए उनकी जिन जमीनों पर कर लगता है, उनमें वे खुले तौर से दूसरों से खेती कराते हैं, और उपज का केवल एक भाग ही आप लेते हैं। इस प्रकार वे, सांसारिक बातों से बचते हुए और खेतों में हल चलाने तथा जल-सिञ्चन-द्वारा

द्वारा होनेवाली जीव-हत्या के दोषों से मुक्त रहकर, शुद्ध जीवन व्यतीत करते हैं।

मैंने यह भी देखा कि उस विहार का प्रबन्ध करनेवाला भिक्षु कुएँ के घाट पर जल की परीक्षा करता है। यदि उस जल में कोई जीव नहीं होता तो उसका उपयोग किया जाता है, और यदि उसमें कोई जीव होता है तो उसे छान लिया जाता है; जब दूसरे लोग (भिक्षुओं को) कोई वस्तु, यहाँ तक कि तरकारी का एक डंठल भी, देते हैं तब वे संघ की अनुमति से उसका उपयोग करते हैं; उस विहार में कोई प्रधान पद निर्दिष्ट नहीं किया जाता है; जब कोई काम पड़ता है तब संघ-द्वारा इसका निर्णय किया जाता है; और यदि कोई भिक्षु किसी बात का निश्चय अपने आप कर देता है, अथवा संघ की इच्छा की परवा न करके स्वेच्छानुसार भिक्षुओं के साथ प्रिय अथवा अप्रिय व्यवहार करता है, तो उसे कुलपति (अर्थात्, उसने गृहस्थों जैसा व्यवहार किया) कहकर (विहार से) निकाल दिया जाता है।

निम्नलिखित बातों पर भी मेरी दृष्टि पड़ी है। जब भिक्षुणियाँ विहार में भिक्षुओं के पास जाती थीं तब वे पहले (संघ को अपना प्रयोजन) सुनाकर उधर जाती थीं। भिक्षुओं को जब भिक्षुणियों की कोठरियों में जाना होता था तब वे पूछ-ताछ करने के बाद उधर जाते थे। वे (भिक्षुणियाँ) विहार से दूर होने पर दो-दो मिलकर चलती थीं; परन्तु जब उन्हें किसी आवश्यक काम के लिए किसी सामान्य मनुष्य के यहाँ जाना होता था तब वे उधर चार मिलकर जाती थीं। मैंने देखा कि प्रत्येक मास के चार उपवसथ-दिनों में भिक्षुओं का एक बहुत बड़ा समूह एकत्र होता था। वे सब अनेक विहारों से तीसरे पहर देर से वहाँ इकट्ठे होकर विहार-विषयक विधियों का पाठ ध्यान-पूर्वक सुनते और बढ़ते हुए सम्मान के साथ उनको मानते और करते थे।

स्त्रियाँ जब कभी मठ में प्रवेश करती थीं, कभी (भिक्षुओं की) कोठरियों में नहीं जाती थीं, वरन् उनके साथ थोड़ी देर तक बराण्डे में बातचीत करके वापस चली जाती थीं। उस समय उस विहार में अ-र-हु ('शि' नहीं) ल-मि-त-र (राहुलमित्र) नाम का एक भिक्षु था। वह उस समय कोई तीस वर्ष का था; उसका आचरण बहुत ही उत्कृष्ट और उसकी कीर्ति अत्यन्त महान् थी। वह न केवल त्रिपिटक का ही पारदर्शी पण्डित था वरन् चार विद्याओं के लौकिक साहित्य में भी पूरा-पूरा निगुण था। भारत के पूर्वी प्रान्तों में उसकी पूजा भिक्षु-शिरोमणि के रूप में होती थी। जब से उसने दीक्षा ली थी तब से अपनी माता और बहन के सिवा, किसी स्त्री के साथ आमने-सामने होकर कभी बात नहीं की थी। वे भी जब उसके पास आती थीं, तब वह (अपने कमरे से) बाहर आकर उनसे मिलता था। एक बार मैंने उससे उसके ऐसे आचरण का कारण पूछा, क्योंकि यह धार्मिक नियम नहीं है। उसने उत्तर दिया—'मैं स्वभावतः सांसारिक अनुराग से भरा हुआ हूँ, और ऐसा किये बिना मैं इसके स्रोत को बन्द नहीं कर सकता।' यद्यपि पुण्यात्मा ने हमारे लिए (स्त्रियों से बातचीत करने का) निषेध नहीं किया, तो भी, यदि खोटी वासनाओं को रोकने का प्रयोजन हो तो यही उचित है (कि उन्हें दूर रक्खा जाय)।

नालन्द विहार के रहनेवालों की संख्या बड़ी और ३,००० से अधिक है। इसके अधिकार में जो भूमि है, उसमें २०० से अधिक गाँव हैं। ये भूमियाँ अनेक पीढ़ियों के राजाओं ने (विहार को) दान में दी हैं। इस प्रकार धर्म का अभ्युदय सदा बना रहता है, जिसका कारण सिवा (इस बात के कि) विनय के (अनुसार ठीक-ठीक आचरण किया जाता है) और कुछ नहीं।

अच्छा, अब हम घर क्यों छोड़ते हैं ? इसका कारण यह है

कि हम पाँच शङ्काओं[1] के भयानक मार्ग का परित्याग करने के लिए सांसारिक दुःखों से अलग रहना, और उससे श्रेष्ठ आठ पर्वंवाले (मार्ग) के प्रशान्त चबूतरे पर पहुँचना चाहते हैं। तब क्या यह ठीक है कि हम दुःखों में फँस जायें, और एक बार फिर (पाप के) जाल में पकड़े जायें ?

यदि हमारा आचरण ऐसा है तो निर्वाण-प्राप्ति की हमारी इच्छा कभी पूर्ण न होगी। बल्कि, कहा जा सकता है कि हम मोक्ष के सर्वथा विरुद्ध कर्म कर रहे हैं, और निर्वाण-पथ के अनुगामी नहीं। केवल यही बात युक्तिसङ्गत है कि हम, अपनी अवस्थाओं के अनुसार, बारह धूताङ्गों का अनुष्ठान करते हुए, और केवल तेरह अपरिहार्य वस्तुएँ रखते हुए, अपने जीवन का पोषण करें। कर्म के प्रभाव को नष्ट करना है; अपने गुरु, अपने सङ्घ और अपने माता-पिता के किये हुए उपकारों का बदला चुकाना है, और देवों, नागों, अथवा राजाओं ने जो प्रगाढ़ करुणा दिखाई थी उससे उऋण होना है। ऐसा आचरण करना वास्तव में मानवी घोड़े को सधानेवाले (अर्थात्, बुद्ध) के उदाहरण का अनुकरण करना और विनय-मार्ग का यथार्थ रीति से अनुसरण करना है। इस प्रकार मैंने भिक्षु के जीवन की रीति पर विचार किया है, और (चीन तथा भारत के) वर्तमान अनुष्ठानों का वर्णन कर दिया है। परमात्मा करे कि सभी धर्मशील लोगों को मेरा यह विमर्ष बहुत सुदीर्घ न जान पड़े।

मैं चाहता हूँ कि बुद्धिमान् लोग गम्भीर ध्यान दें और परिधान के विशेष नियमों को देखें। फिर भारत के सामान्य मनुष्यों, अधिकारियों और उच्च श्रेणी के लोगों का परिधान श्वेत कोमल

---

१ पाँच शंकायें ये हैं—(१) जीविका की न्यूनता, (२) अपयश, (३) मृत्यु, (४) पशु आदि नीच योनि में जन्म, (५) और सांसारिक प्रभाव।

कपड़े का एक जोड़ा होता है, परन्तु निर्धन और छोटी श्रेणी के लोगों के पास सन के कपड़े का केवल एक टुकड़ा ही होता है। प्रव्रजित के पास ही तीन चीवर और छः परिष्कार होते हैं, और जो भिक्षु अधिक की कामना करता है (मूलार्थतः, जो विलासिता से प्रेम करता है) वह तेरह अपरिहार्य वस्तुओं का उपयोग कर सकता है।

अब मैं जम्बूद्वीप और समस्त दूर-दूर के टापुओं के लोगों तथा उनके वेषों का स्थूल रूप से वर्णन करूँगा। महाबोधि से पूर्व की ओर लिन-इ (अर्थात् चम्पा) तक (अन्नाम में) क्वन-चोउ की दक्षिणी सीमाओं तक फैले हुए बीस देश हैं। यदि हम दक्षिण-पश्चिम की ओर चलें तो हम समुद्र पर पहुँच जाते हैं; और उत्तर में इसकी सीमा कश्मीर है। दक्षिणी सागर में, सिंहल द्वीप को मिलाकर, दस से अधिक देश (द्वीप) हैं। इन सब देशों में लोग दो कपड़े (संस्कृत, कम्बल) पहनते हैं। ये सन के चौड़े कपड़े के होते हैं जो कि आठ फ़ुट लम्बे होते हैं। इसमें कोई कटिबन्ध नहीं होता, और न यह काटा या सिया ही जाता है, वरन् निचले भाग को ढाँपने के लिए कमर के गिर्द केवल लपेट लिया जाता है।

भारत के अतिरिक्त, पारसों (फ़ारसियों) और तजकों (जो प्रायः अरब समझे जाते हैं) के देश भी हैं जो क़मीज और पायजामा पहनते हैं। नङ्ग लोगों के देश (निकोबार द्वीप) में लोगों के शरीर पर कपड़ा बिलकुल नहीं होता; पुरुष और स्त्रियाँ सभी समान रूप से दिगम्बरी वेष में रहते हैं। कश्मीर से लेकर सूलि, तिब्बत और तुर्क जातियों के देश—जैसे मङ्गोल देशों—तक रीतियाँ एक दूसरे से एक बड़ी सीमा तक मिलती हैं; इन देशों के लोग ढाँपने का कपड़ा (संस्कृत, कम्बल) नहीं पहनते, परन्तु सामर्थ्यानुसार बहुत-सा ऊन या चमड़े का उपयोग करते हैं, और वहाँ कर्पास (अर्थात् कपास), जो हम कभी-कभी पहनी हुई देखते हैं, बहुत कम होती है। ये देश ठण्डे हैं, इस कारण यहाँ के लोग सर्वत्र

क़मीज़ और पायजामा रखते हैं। इन देशों में पारसों, मङ्क्ष लोगों, तिब्बतियों और तुर्क जातियों में बुद्ध-धर्म नहीं है, परन्तु अन्य देश बुद्ध-धर्म के अनुयायी थे और हैं; और जिन देशों में क़मीज़ और पायजामा पहना जाता है वहाँ के लोग शारीरिक स्वच्छता पर ध्यान नहीं देते। इसलिए भारत के पाँचों खण्डों के लोग अपनी शुद्धता और श्रेष्ठता पर गर्व करते हैं। परन्तु उच्च संस्कृति, साहित्यिक लालित्य, औचित्य, मिताचार, स्वागत और विदाई के शिष्टाचार, भोजन की स्वादुप्रवृत्ति, उदारता और पुण्यशीलता की प्रचुरता केवल चीन में ही पाई जाती है; कोई दूसरा देश (इन बातों में) उससे बढ़ नहीं सकता। पश्चिम से भिन्नता की बातें ये हैं—(१) भोजन की शुद्धता की रक्षा न करना; (२) मूत्रत्याग करने के पश्चात् जल न लेना; (३) दातुन न करना। कुछ लोग ऐसे भी हैं जो विधिविरुद्ध वस्त्र धारण करने को अनुचित नहीं समझते; वे संक्षिप्त विनय के वचन का प्रमाण देते हैं। वह वचन इस प्रकार है—'एक देश में जो बात अपवित्र समझी जाती है, वही यदि दूसरे देश में पवित्र समझी जाती हो, तो वहाँ इस पर अनुष्ठान करने में कोई पाप नहीं।' परन्तु इस वचन को कुछ अनुवादकों ने ठीक तौर पर नहीं समझा; इसका वास्तविक अर्थ यह नहीं जो ऊपर दिया गया है।

बुद्ध और अन्य पूज्य मुनियों की मूर्तियों के सामने सामान्य रूप से मनुष्य कन्धा नङ्गा रखता है और इसको ढँकने से अपराध लगता है। प्रव्रजित हो जाने का अर्थ दुःखों से मुक्त हो जाना है।

जब शीत-काल में मनुष्य घर से बाहर नहीं जाता, तब वह भली भाँति कोयलों की आग का उपयोग कर सकता है, और उसे अनेक वस्त्र पहनने का कष्ट उठाने की आवश्यकता नहीं। यदि रोग के कारण मनुष्य को मोटे परिधान का प्रयोजन हो तो वह अस्थायी रूप से जो चाहे कर सकता है, परन्तु शर्त यह है कि वह नियमों को न

तोड़े। चीन में शीत-काल बड़ा दुःसह होता है, प्रायः हमारे शरीरों को चीरता जाता है, और गरम कपड़ों के बिना हमारा जीवन जोखिम में रहता है। धर्म में यह बड़ी कठिनाई है, परन्तु मोक्ष को ऐसे प्रदेश के लोगों का समावेश अवश्य करना चाहिए।

महानदी (चीन में ह्वाङ्हो) अपनी पवित्र धारा को (बुद्ध गया में) मुचिलिन्द सरोवर में मिला देती है। 'पतला बेंत' (हुसी-लीऊ) अपनी शोभा में उस बोधिवृक्ष के साथ मिल जाता है जो अपनी उज्ज्वल कीर्ति के साथ हरा-भरा है और शहतूत के पेड़ों के खेत के (समुद्र में) परिवर्तित हो जाने, अथवा कल्प पत्थर के बिलकुल घिस जाने के बाद तक सदा फूला-फला रहेगा। तब (बुद्ध) धन्य है! आओ हम (उसके सिद्धान्त पर चलने के लिए) एक बार प्रयत्न करें! सूर्य-सदृश बुद्ध छिप गया है, और आनेवाले समयों के लिए अपनी शिक्षा पीछे छोड़ गया है। यदि हम उसकी शिक्षा पर आचरण करते हैं तो मानो हम अपने गुरुदेव की विद्यमानता में ही रहते हैं, और यदि हम उसकी शिक्षा के प्रतिकूल चलते हैं तो हममें अनेक दोष प्रकट हो जायेंगे। इसलिए एक सूत्र में कहा है—'मेरे उपदेशों पर ठीक-ठीक चलो, तब मैं (गुरुदेव) उसी प्रकार इस संसार में मौजूद हूँ*।'

मनुष्य के जीवन में, सबसे आगे और सबसे पहले, भोजन और आच्छादन हैं।

मनुष्य के लिए ये दो बेड़ियाँ और हथकड़ियाँ हैं
जो उसको पुनर्जन्म के क्षेत्र के साथ बाँधती हैं।
आर्य-वचन पर चलो,
विश्राम और मुक्ति उसकी होगी।
यदि स्वार्थपरता उसकी पथप्रदर्शिका होगी।

---

* सम्भवतः यहाँ महापरिनिर्वाण-सूत्र से अभिप्राय है। 'मेरी मृत्यु के पश्चात् धर्म और संघ के नियम, जिनकी मैंने शिक्षा दी है, तुम्हारे गुरु हैं।'

तो पाप और कष्ट उसे घसीटेंगे ।
हे बुद्धिमान् मनुष्य ! सावधान । प्रतिफल प्रत्यक्ष है ।
जब आठ* वायु तुम्हारे शरीर से चले गये ।
तब फिर पाँच शंकायें† तुम्हें नहीं धमकायेंगी ।
सदा मणि के सदृश पवित्र रहो जो कि कीचड़ में भी पवित्र है;
ऐसे उजले जैसे कमल की पत्तियों पर ओस ।
यदि तुम्हारा शरीर ढँपा हुआ है, तो परिच्छद पर्याप्त है ।
यदि तुम भूख से नहीं मरते तो भोजन यथेष्ट है ।
केवल मोक्ष की तलाश करो, मनुष्य या देव की नहीं ।
धूताङ्गों का अनुष्ठान करते हुए जीवन व्यतीत करो ।
जीवों की रक्षा करते हुए अपने वर्ष समाप्त करो ।

[११]

परिच्छद धारण करने की रीति

परिच्छद का दायाँ कोना लेकर उसे बायें कन्धे पर रक्खो और उसे पीठ पर लटकने दो। यह बाँह पर न अटके । उसके खूंट को फिर कन्धे पर और स्वयं परिच्छद को गले के गिर्द आने दो । (परिच्छद गले के गिर्द इस प्रकार रक्खा जाता है कि) दोनों हाथ इसके नीचे आ जाते हैं; परिच्छद का दूसरा खूँट सामने लटकता है । राजा अशोक की मूर्ति का परिच्छद इसी प्रकार का है ।

छाता बाँस की छड़ियों से बुनना और बाँस की पिटारी के समान पतला बनाना चाहिए, परन्तु वह दुहरा ढँका हुआ न हो । इसका परिमाण,

---

* वेदान्त सार में पाँच प्राण, और कपिल के अनुयायियों के मतानुसार दस वायु ।

†(१) जीविका की न्यूनता, (२) अपयश, (३) मृत्यु, (४) पशु आदि नीच योनि में जन्म और (५) सांसारिक प्रभाव ।

मनुष्य की अपनी इच्छा के अनुसार,(व्यास में) दो या तीन फ़ुट हो सकता है। मध्य भाग दुहरा बनाना चाहिए, ताकि उसमें मूठ लगाई जाय। मूठ की लम्बाई छाते की चौड़ाई के अनुरूप होनी चाहिए। बाँस की छड़ियों के छाते पर लाख का वार्निश किया जा सकता है। बाँस की जगह यह नरकट का बुना जा सकता है; यह बेंत की बुनी हुई टोपी के सदृश होता है। हम चीन में ऐसे छाते का उपयोग नहीं करते; फिर भी इसका उपयोग करना बहुत आवश्यक है। इसके द्वारा वर्षा के समय हमारे कपड़े भीगने से बच सकते हैं, और ग्रीष्म की चिलचिलाती धूप में हम अपने आपको ठंढा रख सकते हैं। छतरी का व्यवहार विनय के नियमों के अनुरूप और हमारे शरीरों के लिए लाभदायक है; और इसके व्यवहार में कुछ भी हानि नहीं।

पानी का बर्तन, भिक्षा का कटोरा, और तुम्हारी सारी चीजें तुम्हारे कन्धों पर लटकाई जानी चाहिए। उन्हें इस प्रकार लटकाना चाहिए कि वे ठीक तुम्हारे शरीर के पार्श्वों तक पहुँचें, सामनेवाला पिछली ओरवाले को पार न करे। वस्तुओं को लटकाने के लिए जिस रस्से का उपयोग किया जाता है, वह लम्बा नहीं होता, किन्तु केवल कन्धे पर रखने के लिए ही ठीक पर्याप्त होता है। जब चीजें छाती के साथ लटकती हों तब साँस लेना सुगम नहीं होता, और ठीक नियमों के अनुसार ऐसा नहीं होना चाहिए।

जब तुम किसी मन्दिर में अथवा किसी सामान्य उपासक के घर जाओ, तब तुम्हें दालान में जाकर अपना छाता रखना और फिर लटकानेवाली वस्तुओं को खोलना होगा। दालान की दीवार पर हाथी-दाँत की अनेक खूँटियाँ लगानी होती हैं, ताकि आगन्तुक को एक ऐसा स्थान मिल जाय, जहाँ वह अपनी वस्तुएँ लटका सके।

पतले रेशम का बना हुआ काषाय बहुत सूक्ष्म होता है और कन्धे पर नहीं ठहरता; जब पूजा में आप झुकते हैं तब प्रायः फिसल कर भूमि पर आ जाता है। यदि तुम इसे किसी ऐसे द्रव्य का बनाना

चाहते हो, जो इस प्रकार सुगमता से नीचे न फिसल पड़े, तो सबसे उत्तम खुरखुरा रेशम अथवा सन का नर्म सफ़ेद कपड़ा है।

अपने घर में सामान्यतः सङ्कक्षिका और साया ही पहने जाते हैं। जब मनुष्य बाहर जाय और प्रतिमा का पूजन करे तब उसे और कपड़े मिला लेने चाहिए। अब मैं संक्षेप में साया पहनने की रीति का वर्णन करूँगा। मूलसर्वास्तिवादनिकाय के ग्रहण किये हुए साया के नियमों के अनुसार, साया पाँच हाथ लम्बा और दो हाथ चौड़ा कपड़े का एक टुकड़ा होता है। माल, जैसा मनुष्य को मिल सके, उसके अनुसार, रेशम या सन का कपड़ा हो सकता है।

भारतीय लोग इसे इकहरा, परन्तु चीनी लोग दुहरा बनाते हैं; लम्बाई और चौड़ाई निश्चित नहीं। शरीर के (निचले भाग के) गिर्द रखकर इसे इतना ऊपर को खींचो कि तुम्हारी नाभि ढँप जाय। अब तुम्हें अपने साये के ऊपर के खूंट को अपने बायें हाथ के साथ बायें हाथ की ओर थामना, और (अपने बायें हाथ के साथ) अपने साये के दूसरे सिरे को—जो कि भीतर की ओर तुम्हारे दाहिने हाथ के पार्श्व के इर्द-गिर्द है—बाहर खींचना है। अपना बायाँ पार्श्व अपने उत्तरीय चीवर की बाईं झूल से (और दायाँ पार्श्व दाईं झूल से) ढँक दो।

अपने 'निवास' (साये) के दोनों सिरों को दोनों हाथों के साथ बिलकुल सामने ले आओ, मध्य में उन्हें मिला दो और उन्हें तीन ऐंठें दो। तब उन तीन ऐंठों को अपनी पीठ के गिर्द लाओ; उनको तीन उँगली भर ऊँचा उठाओ, और तब भीतर की ओर कोई तीन अँगुल नीचे दबा दो। इस प्रकार डोरियां न होने पर भी साया फिसलता नहीं। अब कोई पाँच हाथ लम्बी कमर की पेटी लो, इसके अङ्कड़े (हुक) वाले भाग को अपनी नाभि के ठीक नीचे लाओ, और अपने साये के ऊपरी किनारे के गिर्द बाँध दो।

कमर की पेटी के दोनों सिरे तुम्हारी पीठ पर आयें और एक दूसरे को लाँघें; तब उन्हें फिर अपने बायें और दाहिने पार्श्वों की ओर पीछे

खींचना होता है, जहाँ तुम्हें उनको अपनी बाँहों के साथ दृढ़तापूर्वक दबाना पड़ता है, जब कि तुम दोनों सिरों को (सामने) तीन बार मिलाते और बाँधते हो। यदि कमर की पेटी बहुत लम्बी हो तो तुम्हें उसको काटना पड़ता है; यदि बहुत छोटी हो तो उसमें कुछ और जोड़ना होता है। कटिबन्ध के दोनों सिरों को सी देना या सजाना नहीं चाहिए।

साया पहनने की ऊपर कही रीति सर्वास्तिवादनिकाय को दूसरे निकायों से अलग करती है। यह परिमण्डल निवास (—यति) कहलाती है, जिसका चीनी में अर्थ है 'साया पहनने की गोल-शुद्ध रीति।' (कटि) बन्ध की चौड़ाई एक उँगली के सदृश होती है। जूते का तसमा, मोजे का बन्धन, इत्यादि गोल हों चाहे वर्ग; दोनों की आज्ञा है। विनय-पुस्तकों में कत्तान के रस्से जैसी वस्तु के उपयोग की आज्ञा नहीं।

जब तुम छोटी कुर्सी अथवा लकड़ी के कुन्दे पर बैठते हो, तब तुम्हें अपने 'निवास' के ऊपरी भाग को अपने उत्तरीय की झूल के नीचे रखना, और साया को शीघ्रता से ऊपर खींचना होता है, जिससे यह (आसन पर) तुम्हारी जाँघों के नीचे आ जाय। तुम्हारे दोनों घुटने ढँके होने चाहिए; परन्तु तुम्हारी नरहड़ के नङ्गा रहने में कोई दोष नहीं।

सारा 'निवास' मनुष्य की नाभि से लेकर उसके टखनों की हड्डियों से चार उँगली ऊपर तक ढाँपे रहे, यह एक ऐसा नियम है जिसका पालन उस समय किया जाता है जब कि भिक्षु किसी सामान्य मनुष्य के घर में होता है। परन्तु जब तुम विहार में हो, तब नरहड़ के निचले अर्धभाग को खुला रखने की आज्ञा है। यह नियम स्वयं बुद्ध ने बनाया था, और इसमें अपनी इच्छा के अनुसार परिवर्तन नहीं करना चाहिए। शिक्षा के विरुद्ध कार्य करना और अपनी स्वार्थपर इच्छा पर चलना उचित नहीं। जो निवास तुम पहने हुए हो, वह यदि लम्बा है और भूमि से छूता है, तो तुम एक ओर तो किसी श्रद्धालु भक्त के दिये हुए शुद्ध दान को खराब कर रहे हो; और दूसरी ओर गुरुदेव के आदेशों का उल्लङ्घन कर रहे हो।

तुममें से कौन है जो मेरे सदय प्रतिवाद पर चलेगा ? परमात्मा करे कि दस सहस्र भिक्षुओं में एक भी व्यक्ति ऐसा हो, जो मेरे शब्दों पर ध्यान दे !

जो निवास (साया) भारत में पहना जाता है, वह शरीर के निचले भाग के गिर्द आड़े रूप से पहना जाता है। भारत का श्वेत कोमल कपड़ा, जिसका निवास के रूप में उपयोग होता है, दो हाथ चौड़ा होता है, अथवा कभी-कभी इसकी चौड़ाई आधी (एक हाथ) होती है।

निर्धन लोग यह कपड़ा (जितना एक नियमित निवास के लिए आवश्यक होता है उतना) प्राप्त नहीं कर सकते। (व्यय को बचाने के लिए) मनुष्य कपड़े के दोनों किनारों को मिलाकर टाँक सकता, और खोलकर उसमें टाँके डाल सकता है। इससे मतलब पूरा हो जायगा।

फिर परिव्राजक के सारे वस्त्र 'कण्ड*' (पीले) रंग में रँगने चाहिए। इस बात क ध्यान रखना चाहिए कि रंग बहुत गहरा या बहुत हलक न हो।

(लागत बचाने के लिए) मनुष्य केवल खजूरों, लाल मिट्टी, पिसे हुए लाल पत्थर, जंगली नासपाती, या स'उ-त्ज़ू (मटियाला बैंगनी) का उपयोग कर सकता है।

शहतूत की छाल से तैयार किया हुआ रंग, और नीले तथा हरे रंगों का निषेध है। असली बैंगनी और गहरा भूरा पश्चिम में ग्रहण नहीं किया जाता।

जूतों और खड़ाऊँ के विषय में बुद्ध के बनाये हुए कुछ नियम हैं। लम्बे जूते अथवा अस्तरवाले खड़ाऊँ नियमों के विरुद्ध हैं। बुद्ध किसी भी बेल-बूटेदार अथवा सजाई हुई वस्तु के उपयोग की आज्ञा नहीं देता था।

---

* कण्ड, या गण्ड कोई संस्कृत शब्द जान पड़ता है।

[१२]

भिक्षुणी के वेष और अन्त्येष्टि-कर्म के नियम

विनय के अनुसार भिक्षुणी के लिए पांच वस्त्र हैं—

(१) सङ्घाटी, (२) उत्तरासङ्ग, (३) अन्तर्वास, (४) सङ्कक्षिका तथा (५) साया।

पहले चार वस्त्रों के ढंग और नियम वही हैं जो सङ्घ के बड़े (पुरुष) सदस्यों के हैं, परन्तु लहंगे का एक अंश भिन्न है। संस्कृत में भिक्षुणी के साया को 'कुसूलक' कहते हैं, जिसका अनुवाद 'खत्ता-जैसा वस्त्र' किया जाता है, क्योंकि इसकी आकृति, दोनों सिरे इकट्ठे सिले हुए होने से, एक छोटे खत्ते (कुसूल) की-सी होती है; इसकी लम्बाई चार हाथ और चौड़ाई दो हाथ होती है। यह ऊपर की ओर नाभि तक ढकता है और नीचे की ओर गुल्फों से चार अंगुल ऊपर तक आता है।

भिक्षुणी जब घर से बाहर अथवा भिक्षु के सामने हो, या किसी भक्त जन ने उसे अपने घर पर भोज के लिए निमन्त्रित किया हो, तब उसका काषाय सदा उसके कण्ठ के गिर्द होना और उसका शरीर उससे ढँका रहना चाहिए; काषाय का कन्धे का फीता खोलना नहीं चाहिए। परन्तु अपने हाथों को (काषाय के) नीचे से बाहर निकालना चाहिए। सङ्कक्षिका पहनने, एक कन्धा खुला रखने, या कमीज अथवा पायजामा पहनने का निषेध स्वयं महामुनि ने किया है। भिक्षुणियों को ये चीजें नहीं रखनी चाहिए।

जब भिक्षुणी विहार में या अपने कमरों में हो, तब एक कुसूलक और एक सङ्कक्षिका पर्याप्त होगी। परन्तु सब कहीं लज्जा को पर्याप्त रूप से ढँकना चाहिए; यहाँ तक कि मूत्रत्याग करने के स्थान में भी कन्धे नंगे न होने चाहिए।

गरम कपड़े यदि कोई चाहे तो शरत्काल और हेमन्त में धारण किये जा सकते हैं। कटोरे में भिक्षा माँगकर शरीर का पर्याप्त रूप से पोषण हो सकता है।

यदि किसी व्यक्ति का मन, चाहे वह स्त्री ही हो, बलवान् हो तो उसे न चरखी और खड्डी में लगने का और न साधारण (घरेलू) काम करने का ही प्रयोजन है; फिर अनेक कपड़े—कभी पाँच, कभी दस—पहनने की आवश्यकता उसे और भी कम है।

कुछ (भिक्षुणियाँ) ऐसी हैं, जिनको ध्यान अथवा पठन का कभी विचार नहीं आता, जो पार्थिव कामनाओं-द्वारा हाँकी जाकर आगे की ओर दौड़ रही हैं। दूसरी ऐसी हैं जो शील (उपदेशों) की कुछ भी परवा न करके गहने और कपड़े से बहुत प्यार करती हैं। ये सब व्यक्ति इस योग्य हैं कि सामान्य अनुयायी इनकी परीक्षा करें। भारत की भिक्षुणियाँ चीन की भिक्षुणियों से बहुत भिन्न हैं। वे भिक्षा माँगकर निर्वाह करती और दरिद्र तथा सरल जीवन बिताती हैं।

मनुष्य का मूल सङ्कल्प मोक्ष-प्राप्ति के लिए घर-बार छोड़ने का था। तीन (विषैले) वृक्षों* की हानिकारक जड़ों को काट डालने के लिए, और चार बहती हुई धाराओं† के विपुल विस्तार को रोकने के लिए, मनुष्य को "त" के अनुष्ठान पूरे करने चाहिए और सुख-दुःख के भयानक पथ से बचना चाहिए; मन को स्वच्छ करके और अपनी कामनाओं को दबाकर मनुष्य को मोक्ष के सच्चे मार्ग पर चलना चाहिए। दिन-रात शील पर ध्यान देने से धर्म्म बढ़ता और फैलता है। यदि मनुष्य सदा अपने शरीर को चैन में रखने का ही विचार करता रहता है, तो वह भूल करता है। जब मनुष्य विनय की शिक्षा के अनुसार अनुष्ठान में पक्का और आचरण में सच्चा होता है, तब नाग, प्रेत, देव और मानव उसके अनुयायी और पुजारी बन जाते हैं। तब मनुष्य को अपनी आजीविका के लिए क्यों इतना चिन्तातुर होना और (सांसारिक मार्ग का) व्यर्थ परिश्रम करना चाहिए?

---

* लोभ, घृणा, और मूर्खता; इनका दूसरा नाम "तीन विष" है।

† पार्थिव कामना, भाव की अवस्था, भ्रांत बुद्धि, और अविद्या; इनका दूसरा नाम 'चार जूए' है।

पाँच कपड़े, एक ठिलिया और एक भिक्षापात्र भिक्षुणियों के निर्वाह के लिए पर्याप्त हैं; और उनके जीवन को बचाने के लिए एक छोटी-सी कोठरी यथेष्ट है। निज के भोज घटाये जा सकते हैं और इस प्रकार सामान्य भक्तजनों के कष्टों से बचा जा सकता है; भिक्षुणियाँ कीचड़ में पड़े हुए रत्न अथवा जल में कमल के समान शुद्ध हो सकती हैं, और इस प्रकार उनका जीवन, चाहे नीच कहलाये, पर वास्तव में प्रज्ञा का जीवन है जो कि एक उच्च व्यक्ति के जीवन के समान है।

भिक्षु और भिक्षुणियाँ अपने माता-पिता की मृत्यु के समय अन्त्येष्टि-क्रिया में सदा से यथेष्ट चिन्ता से काम नहीं लेतीं अथवा सामान्य लोगों के सदृश ही शोक नहीं करतीं, और फिर भी अपने आपको पितृ-भक्त सन्तान समझती हैं।

कुछ लोग अपने कमरों में मृतकों के मन्दिर बनाते हैं, और चढ़ावा चढ़ाते और यह दिखलाने के लिए कि हम शोक में हैं, एक रङ्गीन कपड़ा बिछा देते हैं। कई लोग, साधारण रीति के विपरीत, अपने बाल मुँड़ाते नहीं है, या एक शोक-छड़ी रखते अथवा पुआल की चटाई पर सोते हैं। ये सब रीतियाँ बुद्ध की शिक्षा के अनुसार नहीं हैं, और मनुष्य इन्हें बिना दोषी हुए भली भाँति छोड़ सकता है। मनुष्य के लिए जो कुछ करना आवश्यक है वह यह है—पहले मृतक के लिए एक कमरा शुद्ध और सुशोभित करो अथवा कभी-कभी कुछ (छोटे) शामियाने या परदे अस्थायी रूप से लगा दो, और सूत्र पढ़ते और बुद्ध का ध्यान करते हुए धूप और पुष्प चढ़ाओ। यह कामना करनी चाहिए कि प्रेतात्मा किसी अच्छे स्थान में जन्म ले। इसी रीति से मनुष्य पितृ-भक्त बालक बनता और मृतक के जीवन-काल में किये हुए उपकारों का प्रतिफल देता है।

तीन वर्ष का शोक अथवा सात दिन का उपवास ही केवल ऐसी रीतियाँ नहीं जिनसे मृत्यु के पश्चात् हितैषी मृतक का पूजन होता

है। (क्योंकि ये अनुष्ठान* कुछ लाभ नहीं देते), मृतक पार्थिव कष्टों के साथ पुनः बाँधा जा सकता है (अर्थात् उसका पुनर्जन्म हो सकता है) और (पाप की) हथकड़ी और बेड़ी का दुःख भोग सकता है। इस प्रकार मृतक, कारणत्व की जंजीर के तीन विभागों (बारह निदानों) से सदा अनभिज्ञ रहकर, अँधेरे से निकलकर फिर अँधेरे में, और पूर्णत्व की दस अवस्थाओं† को कभी न देखकर, मृत्यु से मृत्यु में जा सकता है।

बुद्ध की शिक्षा के अनुसार, जब भिक्षु मर जाता है, और मनुष्य पहचान लेता है कि वह ठीक मर गया है, तब उसी दिन उसका शव अर्थी पर रखकर श्मशान-भूमि में भेज दिया जाता और वहाँ जला दिया जाता है। जब शव जल रहा होता है तब उसके मित्र इकट्ठे होकर एक ओर बैठ जाते हैं। वे या तो बाँधी हुई घास पर, या मिट्टी के चबूतरे पर, या ईंटों अथवा पत्थरों पर बैठते हैं। एक भिक्षु मनुष्य अनित्यसूत्र पढ़ता है। यह एक पृष्ठ अथवा पन्ने जितना छोटा होता है जिससे कि थकानेवाला न बन जाय।

तब वे (सब अवस्थाओं की) अनित्यता पर ध्यान करते हैं। अपने निवास-स्थान पर लौटकर वे, अपने वस्त्रों-सहित, विहार के बाहर तालाब में, इकट्ठे स्नान करते हैं। यदि कोई तालाब न हो तो वे कुएँ पर जाकर नहाते हैं। वे पुराने वस्त्र पहनते हैं, ताकि नवीनों की हानि न हो। तब वे सूखे हुए कपड़े धारण कर लेते हैं। अपनी कोठरियों में, वापस आकर वे गाय के गोबर से फ़र्श को साफ़ करते हैं। शेष सब वस्तुएँ वैसी ही रहती हैं। शोक के वस्त्र पहनने की कोई रीति नहीं। वे कभी-कभी मृतक के लिए, उसका शरीर रखने के लिए, एक स्तूप की ऐसी चीज बनाते हैं। यह 'कुल' कहलाता है। यह एक छोटे स्तूप का ऐसा होता है, परन्तु इस पर गुम्मट नहीं होता।

---

* अर्थात् तीन वर्ष का शोक और सात दिन का उपवास।

† वे दस अवस्थाएँ जिनमें बोधिसत्त्व गुजरता है।

किन्तु एक साधारण मनुष्य और एक उच्च व्यक्ति के स्तूपों में कुछ भेद होता है, जैसा कि विनय-पुस्तकों* में अति सूक्ष्मता से वर्णन किया गया है।

[१३]

प्रतिष्ठित भूमियाँ

पाँच प्रकार की प्रतिष्ठित भूमियाँ हैं—

१. विहार बनाने के लिए किसी व्यक्ति के द्वारा दान की गई भूमि।

२. विहार बनाने के लिए दो से अधिक भिक्षुओं की घोषणा-द्वारा अलग की हुई भूमि।

३. वह भूमि जहाँ लेटी हुई गाय की आकृति का भवन खड़ा हो।

४. मन्दिर या किसी दूसरे पवित्र भवन के खण्डहर।

५. भिक्षुओं-द्वारा पवित्र कर्म्म के साथ चुनी हुई और भेंट की हुई भूमि।

(१) जब विहार बननेवाला हो और आधार-शिला रक्खी जा चुकी हो, तब कार्य की देखभाल करनेवाले एक भिक्षु को अपना संकल्प निम्नलिखित रीति से प्रकट करना चाहिए—'विहार अथवा घर के इस स्थान पर आओ हम सङ्घ के लिए एक पवित्र पाकशाला बनायें।'

(२) आधार-शिला स्थापित हो चुकने के अनन्तर यदि तीन भिक्षु रखवाली कर रहे हों, तो एक दूसरों से कहे—'पूज्य महाशयो, ध्यान दीजिए, हमने इस स्थान पर चिह्न लगा दिया और इसे चुन लिया है, और विहार अथवा गृह के ठीक इसी स्थान पर हम सङ्घ के लिए एक पाकशाला बनायेंगे।' दूसरे और तीसरे भिक्षु को भी यही उच्चारण करना चाहिए। (३) ऐसे विहार हैं जिनके मकान लेटी हुई गाय के सदृश हैं, और कोठरियों के द्वार इधर-उधर बिखरे हुए हैं। ऐसा

---

* सम्यक्तवस्तु, अध्याय १८।

भवन, यद्यपि कर्म-द्वारा कभी प्रतिष्ठित नहीं हुआ तो भी, पवित्र समझा जाता है। (४) वह स्थान है जिसे सङ्घ ने चिरकाल से छोड़ दिया हो। यदि सङ्घ वहाँ फिर आये तो वही स्थान, जिसका पुरातन काल में उपयोग हो चुका था, पवित्र हो जाता है। परन्तु उन्हें अनुष्ठान (कर्म्म) किये बिना वहाँ रात न बितानी चाहिए। (५) कर्म और घोषणा दोनों द्वारा प्रतिष्ठित भूमि है। इसका वर्णन मूलसर्वास्तिवादनिकायैकशत-कर्मन् में है।

जब इन पाँच पवित्र नियमों में से एक पूरा हो जाय, तब, बुद्ध कहता है कि सब भिक्षु इसमें दुहरा आनन्द ले सकते हैं—(१) भीतर खाना पकाना और बाहर बटोरना; (२) भीतर बटोरना और बाहर पकाना, दोनों दोषरहित हैं।

यदि भूमि की अभी प्रतिष्ठा न हुई हो तो उस स्थान पर खाने, पीने या रहने से पाप होता है।

विहार (सङ्घ के लिए) निवास-स्थान का एक प्रचलित नाम है। इसकी प्रत्येक कोठरी में कच्चा और पका हुआ भोजन रक्खा जा सकता है। यदि विहार में सोने की आज्ञा न हो तो उस समय वहाँ रहनेवाले सब भिक्षुओं को बाहर जाकर किसी दूसरी जगह निवास करना चाहिए। भारत की परम्परागत रीति सारे विहार को 'पाकशाला' के रूप में प्रतिष्ठित करने की है, परन्तु इसके एक भाग को लेकर उससे पाकशाला का काम लेने की भी आज्ञा बुद्ध ने दी है।

यदि कोई व्यक्ति अपने कपड़ों की पवित्रता की रक्षा के लिए स्थान की प्रतिष्ठा किये बिना विहार से बाहर सो जाता है तो वह निन्दनीय है। कपड़ों की पवित्रता की रक्षा के लिए धर्म्मसंगत स्थानों में वृक्षों के नीचे की जगहों (या गाँव में) इत्यादि के बीच भेद हैं।

स्थान की रक्षा केवल स्त्रियों से रखवाली के विचार से ही नहीं; क्योंकि (स्त्री) सेविका कभी-कभी पाकशाला के भीतर आ जाती है, और फिर भी (प्रतिष्ठित) पाकशाला ग्राम नहीं समझा जाता, (इसी

प्रकार स्त्रियों को छोड़कर प्रतिष्ठित होने पर भी स्थान पवित्र होता है।) जब मनुष्य गाँव में जाता है तब उसके पास तीन चीवरों के होने का तात्पर्य स्त्रियों से अपनी रक्षा करना नहीं होता। तब कर्मदान (विहार के छोटे अधिष्ठाता) का तीन चीवरों के साथ विहार के कार्य्यों की देखभाल करना, विशेषतः जब कोई स्त्री भीतर आवे, एक बहुत कड़ी रीति है।

[१४]

पाँच परिषदों का ग्रीष्म-एकान्त (वर्ष)

पहला ग्रीष्म-एकान्त पाँचवें चन्द्र के कृष्णपक्ष के पहले दिन होता है, और दूसरा ग्रीष्म-एकान्त छठवें चन्द्र के कृष्णपक्ष के पहले दिन; केवल इन्हीं दो दिनों में ग्रीष्म-एकान्त आरम्भ करना चाहिए। इन दो के बीच ग्रीष्म-एकान्त को किसी और दिन आरम्भ करने की पुस्तक में आज्ञा नहीं। पहला ग्रीष्म-एकान्त आठवें चन्द्रमा के मध्य में समाप्त होता है, और दूसरा नवें चन्द्रमा के मध्य में समाप्त होता है। जिस दिन ग्रीष्म-एकान्त बन्द होता है, भिक्षुगण और सामान्य भक्तजन पूजा की महाप्रक्रिया करते हैं। उस समय एक सभा होती है।

विनय (विनय-संग्रह, अध्याय ७) में कहा है—'यदि (बाहर जाने के लिए) उचित अवसर हो, तो मनुष्य को एक दिन की अनुपस्थिति के लिए आज्ञा लेनी चाहिए।' इस वचन का अर्थ यह है कि क्योंकि मनुष्य को बहुत-से अवसर (अर्थात् भोजन के लिए निमन्त्रण, या कोई दूसरे काम) मिलते हैं इसलिए उसे उतने दिनों की अनुपस्थिति की आज्ञा लेनी चाहिए, अर्थात् एक रात में करनेवाले काम के लिए मनुष्य को एक दिन की आज्ञा लेनी चाहिए, और इसी प्रकार सात दिन तक (आज्ञा ली जा सकती है), परन्तु मनुष्य भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के पास हो जा सकता है। यदि (उसी मनुष्य को मिलने का) दूसरी बार प्रयोजन हो तो विनय कहती है कि मनुष्य को दूसरी बार आज्ञा

लेकर बाहर जाना चाहिए। परन्तु आधा ग्रीष्म-एकान्त बाहर रहने की आज्ञा नहीं; इसलिए अधिक से अधिक केवल चालीस रातों की आज्ञा दी जाती है। यदि किसी रोगी की सेवा-शुश्रूषा करनी हो या कोई कठिन कार्य आ पड़े तो मनुष्य को चला जाना चाहिए; ऐसी दशा में, चाहे अनुपस्थिति की छुट्टी न भी ली हो, ग्रीष्म-एकान्त नहीं टूटता।

वर्ष (वर्षाऋतु) के पहले प्रत्येक सदस्य को कमरे दे दिये जाते हैं; स्थविरों को सबसे अच्छे कमरे दिये जाते हैं और फिर क्रमशः सबसे छोटों को।

[१५]
प्रवारण-दिवस के सम्बन्ध में

वह दिन, जब ग्रीष्म-एकान्त समाप्त होता और ऋतु (शब्दार्थ, वर्ष) बन्द होती है 'मनुष्य की अपनी इच्छा (आसक्ति) के अनुसार' प्रवारण होना चाहिए, अर्थात् तीन बातों—जो कुछ मनुष्य ने देखा है, और जो कुछ सुना है, जिसका उसे सन्देह हुआ है—के अनुसार, स्वेच्छापूर्वक दूसरों के दोष दिखाना चाहिए। इसके अनन्तर दोषों का स्वीकार और प्रायश्चित्त* होता है।

चौदहवें दिन की रात को (पन्द्रहवाँ दिन एकान्त का अन्तिम दिन होता है) संघ एक कथक को बुलाकर एक उच्च आसन पर बैठाता और उससे बुद्ध-सूत्र कहलाता है। इस समय सामान्य भक्तजन और

---

* देखिए महावग्ग ४, १, १४, बड़े भिक्षु कहें—"मैं सङ्घ से निवेदन करता हूँ कि जिस अपराध का वे मुझे दोषी समझते हों, जो अपराध उन्होंने देखा हो या सुना हो, या जिसका उन्हें संदेह हो वह मुझे जिता दें; महाराज, आप मुझ पर दया करके मुझे बता दीजिए; यदि मैं (अपराध) देखूँगा तो उसके लिए प्रायश्चित्त करूँगा।"

भिक्षुगण मेघों अथवा कुहरे के सदृश इकट्ठे हो जाते हैं। वे लगातार दीपक जलाते और धूप तथा पुष्प चढ़ाते हैं। अगले दिन सबेरे वे सब ग्रामों और नगरों के गिर्द जाते हैं और सच्चे हृदय से सारे चैत्यों का पूजन करते हैं।

वे छत्तादार गाड़ियाँ, पालकियों में प्रतिमाएँ, ढोल और आकाश में गूँजते हुए दूसरे बाजे, नियमित क्रम में (मूलार्थतः बढ़े हुए और सजे हुए) ऊँचे चढ़ाये हुए, सूर्य को ढँकते और लल्लोपत्तो करते हुए झण्डे और छत्र लाते हैं, यह 'सा-मा-किन-ली' (सामग्री) कहलाता है, जिसका अनुवाद 'मेल' या 'भीड़ लगाना' है। सभी बड़े उपवसथ-दिन इस दिन के सदृश होते हैं। पहले पहर के आरम्भ में (प्रातः ९ बजे से ११ बजे तक) वे विहार में वापस आ जाते हैं। दुपहर को वे महोपवसथ-प्रक्रिया करते हैं, और तीसरे पहर हाथों में ताजा नागरमोथा का गुच्छा लिये इकट्ठे हो जाते हैं। इसको हाथों में पकड़कर या पैरों के नीचे रौंदकर जो उनकी इच्छा होती है, करते हैं, पहले भिक्षु, फिर भिक्षुणियाँ; इनके अनन्तर सदस्यों की तीन निम्न श्रेणियाँ। यदि आशंका हो कि संख्या के बड़ी होने के कारण समय बहुत लग जायगा तो संघ अनेक सदस्यों को इकट्ठे जाकर प्रवारण-प्रक्रिया कराने की आज्ञा दे देता है।

इस समय, या तो सामान्य भक्तजन दान देते हैं, या स्वयं संघ उपहार बाँटता है, और सब प्रकार के दान सभा के सामने लाये जाते हैं। तब पाँच पूज्य व्यक्ति (पाँचों परिषदों में से एक-एक (?) सभा के मुखियों—स्थविरों) से पूछते हैं—'ये वस्तुएँ संघ के सदस्यों की भी और उनका अपना भोग बनाई जा सकती हैं या नहीं?' स्थविर उत्तर देते हैं—'हाँ बनाई जा सकती हैं।' तब सब कपड़े, चाकू, सुइयाँ, सुतरियाँ इत्यादि लेकर समान रूप से बाँट दी जाती हैं। (बुद्ध की) शिक्षा ऐसी ही है। इस दिन चाकू और सुतरियाँ भेंट करने का कारण यह है कि वे चाहते हैं कि उनको ग्रहण करनेवालों को (तीक्ष्ण) बुद्धि और प्रज्ञा मिले। जब इस प्रकार प्रवारण समाप्त हो

जाता है, तब सब अपना-अपना मार्ग लेते हैं (मूलार्थतः, पूर्व या पश्चिम को जाते हैं)। यदि ग्रीष्म में वे पूर्ण रूप से वहाँ अपना निवास रख चुके हैं तो वहाँ रात बिताने का प्रयोजन नहीं। इसका पूर्णरूप से वर्णन अन्यत्र किया गया है, और मैं इसे यहाँ विस्तारपूर्वक नहीं कहूँगा। 'पापों के स्वीकार' करने का भाव यह है कि अपने अपराध की घोषणा करके और अपने पिछले दोषों की बात कहकर, मनुष्य अपने पिछले आचरण को बदलने (अर्थात् उसका प्रायश्चित्त करने) और भविष्य को सुधारने और सच्चे हृदय से सावधानता-पूर्वक अपने आपको दोषी ठहराने की कामना करेगा। प्रत्येक अर्धमास मनुष्य को पोषध (पाप-प्रकाशन) करना, और प्रतिदिन प्रातः और सायं अपने दुरितों पर विचार करना चाहिए।

इस प्रकार अपने दोषों को स्वीकार करते और शुद्ध होने की कामना करते हुए, मनुष्य आशा करता है कि एक-एक करके स्वीकार करने से पापों का प्रायश्चित्त हो गया है। सब पापों को एकबारगी स्वीकार करने की आशा विनय में नहीं है।

अनुताप का सहिष्णुता से कुछ भी सम्बन्ध नहीं। हमें, अपराध का प्रायश्चित्त करते समय, कहना चाहिए---'मैं सच्चे हृदय से अपने अपराध को स्वीकार करता हूँ।'

भूल हो जाने अथवा किसी दूसरे के शरीर का अचानक स्पर्श कर बैठने पर पश्चिम के लोग, जिसका उन्होंने अपराध किया है कभी तो उसके शरीर पर हाथ फेरकर, अथवा कभी उसके कंधे को छूकर, 'क्षमा' कहते हैं; इसमें वे अपनी स्थिति पर कुछ ध्यान नहीं देते; यदि दोनों स्थविर हों तो वे हाथ नीचे की ओर लटकाये हुए एक दूसरे की ओर देखते हैं, अथवा यदि एक व्यक्ति दूसरे से छोटा हो, तो छोटा हाथ जोड़ कर दूसरे का उचित सम्मान करता है। क्षमा का भाव है 'मैं आपसे माफ़ी माँगता हूँ', 'कृपया क्रुद्ध न हूजिए।' विनय में क्षमा शब्द का

व्यवहार उस समय है जब हम दूसरों से माफ़ी माँगते हैं, परन्तु देशन (प्रति-देशन) का उपयोग अपने पापों को स्वीकार करते समय हुआ है।

संस्कृत शब्द प्रवारण का अनुवाद 'स्वेच्छानुसार (करना)' किया गया है; इसका अर्थ 'परितृप्त करना' भी है, फिर इसका आशय 'दूसरे को उसकी इच्छा के अनुसार उसका अपराध दिखाना' भी है।

[१६]

प्रणाम के लिए उचित अवसर

बुद्ध का कथन है—'दो प्रकार की अशुचिता ऐसी है, जिसमें मनुष्य न तो किसी का प्रणाम स्वीकार करे और न दूसरे को प्रणाम करे।'

वह दो प्रकार का अशौच क्या है?

कोई वस्तु खाने, यहाँ तक कि औषधि का एक परिमाण निगलने से भी मनुष्य, जब तक कुल्ला न कर ले और हाथ न धो ले, प्रणाम करने के अयोग्य रहता है। यहाँ तक कि शर्बत, पानी, चाय या मधु-जल पीने, अथवा घी या गीली शक्कर खाने से भी मनुष्य—जब तक वह उचित रूप से अपनी शुद्धि न कर ले—समान रूप से अयोग्य होता है।

दूसरे, टट्टी जाने से उत्पन्न हुआ अशौच। पाखाना (टट्टी) जाकर मनुष्य अशुद्ध हो जाता है, और उसके शरीर, हाथों और मुँह की शुद्धि आवश्यक होती है।

इसी प्रकार जब मनुष्य का शरीर अथवा कपड़े अपवित्र हो जायें, उन पर थूक, श्लेष्मा-जैसी किसी चीज का धब्बा लग जाय।

सबेरे दातुन न करने का अशौच भी इसी के अन्तर्गत है।

भिक्षुओं की सभा में या उपवास के दिन अपवित्र अवस्था में केवल हाथ जोड़ने चाहिए। हाथों का जोड़ना सम्मान करना है, इसलिए पूरा प्रणाम करने का प्रयोजन नहीं। यदि कोई प्रणाम करता है तो वह विनय के विरुद्ध चलता है। जिस स्थान पर लोग काम में लीन हों वहाँ, अशुद्ध जगह में या मार्ग में, प्रणाम नहीं करना चाहिए। इन बातों का विनय-

ग्रन्थों में वर्णन है। चाहे मनुष्य ठीक-ठीक रीति से (विनय की) शिक्षा पर चलना चाहता हो, परन्तु अशुद्ध परम्परागत रीति अथवा भिन्न जल-वायु के कारण अनेक अनुष्ठानों में बाधा पड़ जाती है।

[१७]
टट्टी जाने के विषय में

अब मैं टट्टी जाने के विषय में नियमों का संक्षेप से वर्णन करूँगा। मनुष्य को शरीर के अधोभाग पर स्नान करने का साया, और उत्तर भाग पर सङ्कक्षिका* परिधान पहन लेना चाहिए। फिर सफ़ाई के लिए एक लोटा (मूलार्थतः, 'छुआ हुआ लोटा') जल से भरना, उस लोटे को लेकर टट्टी जाना, और अपने आपको छिपाने के लिए द्वार को बन्द कर देना चाहिए। मिट्टी के चौदह गोले टट्टी (वर्चस्-कुटी) के बाहर ईंट की थाली में और कभी-कभी एक छोटी-सी पटरी पर रख दिये जाते हैं। ईंट या पटरी का परिमाण एक हाथ लम्बा और आधा हाथ चौड़ा होता है। मिट्टी के गोलों को पीसकर बारीक कर लिया जाता है और उनकी दो पाँतें बना दी जाती हैं। प्रत्येक गोले की पिसी हुई मिट्टी अलग-अलग रक्खी जाती है। वहाँ एक फालतू गोला भी रक्खा जाना चाहिए। मनुष्य को तीन और गोले टट्टी में ले जाकर एक ओर रख देने चाहिए। इन तीनों में से एक तो शरीर को रगड़ने और दूसरा शरीर को धोने के काम में लाया जाता है। शरीर को धोने की रीति इस प्रकार है—शरीर को बायें हाथ से धोना, और फिर जल और मिट्टी से उसकी शुद्धि करनी चाहिए। अभी तक एक गोला शेष रहता है। इसके साथ बायें हाथ को एक बार स्थूल रूप से धो डालना चाहिए।

---

* सङ्कक्षिका एक बगल को ढंकनेवाला बागा या कपड़ा होता है जो शेष सब कपड़ों के नीचे पहना जाता है। इस शब्द के लिए देखिए महाव्युत्पत्ति।

शुद्धि कर चुकने के अनन्तर कपड़ों को छोड़ देना (अर्थात् सुधारना), पानी के लोटे को एक ओर रख देना, दायें हाथ से द्वार को खोलना, और लोटे को दायें हाथ में पकड़े हुए बाहर आना चाहिए। फिर लोटे को बाईं बाँह से आलिङ्गन करके, परन्तु बायें हाथ को बन्द किये हुए, दायें हाथ से पीछे द्वार बन्द कर देना और वहाँ से चल देना चाहिए। अब उस स्थान पर आना चाहिए जहाँ कि मिट्टी के गोले रक्खे हुए हैं, और एक ओर उकड़ूँ बैठ जाना चाहिए। पहले मिट्टी के सात गोले, जो शरीर के निकट हों, बायें हाथ को धोने के लिए क्रमशः एक-एक करके बर्तने चाहिए, और फिर शेष सात एक-एक करके दोनों हाथ धोने के लिए।

ईंट और काठ (की पटरी) के पृष्ठतल को धोकर साफ़ कर देना चाहिए। अभी तक एक और गोला रहता है जिसके साथ लोटा, बाँहें, पेट और पैर (पैरों के तलुए) धोये जाते हैं; जब सब शुद्ध और साफ़ हो जायँ तब मनुष्य, जहाँ उसकी इच्छा हो, जा सकता है। लोटे का पानी मुँह में डालने अथवा होंठों में लगाने के योग्य नहीं। मनुष्य को अपनी कोठरी में वापस आकर एक साफ़ ठिलिया से जल लेकर मुँह धोना चाहिए। टट्टी हो आने के पश्चात् यदि मनुष्य लोटे को छू दे तो जब तक वह दुबारा हाथों को न धोये और कुल्ला न कर ले, दूसरे बर्तनों को छूने के योग्य नहीं होता। टट्टी जाने के विषय में ऐसे ही नियम हैं।

टट्टी जाने के अनन्तर हर सूरत में मनुष्य को एक-दो मिट्टी के गोलों के साथ हाथ धोने चाहिए, क्योंकि पूजा करने का आधार पवित्रता है।

प्रक्षालन के पूर्व सङ्घ की कुर्सी पर बैठना, अथवा त्रिरत्न को प्रणाम करना नहीं चाहिए।

'जो धर्म पीछे छोड़ा गया है, उसकी केवल छाया और शब्द ही प्रकट होना आरम्भ हुआ है*। जाओ और अपने आपको उन लोगों को सौंप

---

* उसके कथन का आशय यह है कि धर्म का प्रभाव अभी तक थोड़ा है।

दो जिन्होंने सांसारिक जीवन का परित्याग कर दिया है; उठो और उन लोगों के पीछे चलो जिन्होंने सांसारिक चिन्ता छोड़ दी है। तुम्हें अन्धकार के लिप्त और नीच जगत् को अवश्य त्याग देना चाहिए; तुम्हें पवित्रता का शान्त और शुभ जीवन व्यतीत करना चाहिए। बाहर का मैल और भीतर की भूल दोनों पोंछ जायँ, और ऊपर की गाँठ और नीचे का बन्धन दोनों समान रूप से कट जायँ। जब तुम्हारा शरीर शान्त और मन पवित्र होगा तब तुम्हारे चार कर्मों* को कभी कष्ट न होगा, और सम्मान के तीन विषय† सदा मित्र होंगे।

तब तुम जीवित मनुष्यों में उपहास के विषय न होगे; तुम यम की क्रोध-भरी दृष्टि से कैसे भयभीत होगे? प्राणियों के नौ लोकों का कैसे उपकार हो सकता है, और तीन लम्बे युगों में (बुद्धत्व के लिए) उत्तम हेतु कैसे पूर्ण हो सकता है, इसका हमें खूब विचार करना चाहिए।

यदि, जैसा कि मैं सचाई से आशा करता हूँ, लाख में से एक मनुष्य भी (मेरे शब्दों से) अपना सुधार करेगा, तो अपने आयास के दो वर्जन वर्षों में जो कठिनाई और कठोरता मैंने झेली है, उसके लिए मुझे खेद न होगा।

[१८]
उपसम्पदा के नियम

प्रव्रजित बनने (मूलार्थतः घर-बार-रहित होने) के सम्बन्ध में जो प्रक्रियायें पश्चिम में की जाती हैं उनके लिए सूक्ष्म नियम हैं, जो कि मुनि (बुद्ध) ने प्रतिष्ठित किये हैं। परन्तु मैं यहाँ उनके विषय में केवल

---

*अर्थात् जाना, ठहरना, बैठना, और लेटना।

† अर्थात् तीन रत्न।

कुछ ही बातें सुनाऊँगा। जिस मनुष्य ने अपने विचारों को (धर्म की ओर) फेर दिया है और प्रव्रजित बनने की इच्छा कर ली है, वह अपनी इच्छा के अनुसार किसी उपाध्याय के सामने जाकर उससे अपनी अभिलाषा कहता है। वह उपाध्याय, किसी न किसी उपाय से, मालूम करता है कि इसके मार्ग में कोई रुकावट तो नहीं है अर्थात् पितृ-हत्या, मातृ-हत्या आदि का पाप तो इसे नहीं लगा है। यदि वह ऐसी कोई कठिनाई नहीं पाता तो वह उसे (भिक्षुपद के लिए) स्वीकार कर लेता है। स्वीकार कर लेने के अनन्तर उपाध्याय उसे दस दिन या एक मास तक खुला छोड़ देता है। और फिर उसे पाँच उपदेश* देता है।

तब उपाध्याय, (पदाभिलाषी के लिए) एक पट, एक सङ्घक्षिका, एक निवासन, एक भिक्षा-पात्र, और एक चालनी का प्रबन्ध करके, सङ्घ के अभिमुख होता और कहता है कि पदाभिलाषी भिक्षु बनना चाहता है। जब संघ उसे स्वीकार कर लेता है तब उपाध्याय उसकी ओर से उपाचार्यों को संस्कार कराने के लिए कहता है। तब वह मनुष्य किसी एकान्त स्थान में अपने केश और दाढ़ी मुंड़वाता है और स्नान करता है। उपाध्याय किसी न किसी प्रकार उसकी परीक्षा करता है कि वह कहीं हिजड़ा इत्यादि तो नहीं, और तब वह उस पर निवासन रख देता है। फिर उसे उत्तरीय कञ्चुक दिया जाता है। अब वह प्रव्रजित कहलाता है। फिर उपाध्याय के सामने आचार्य उसे दस शिक्षापद, सुनाकर या पढ़कर, देता है। इन शिक्षापदों को सीख लेने के बाद वह भिक्षु श्रमणेर कहलाता है। श्रमणेर का अर्थ है 'जो विश्राम ढूंढ़ता है,' अर्थात् 'जो निर्वाण—पूर्ण विश्राम—प्राप्त करना चाहता है।'

उपसम्पदा लेनेवालों के लिए प्रतिपत्ति, प्रक्रियायें, उपदेश माँगने

---

* पाँच बुद्ध के परम प्रसिद्ध मौलिक उपदेश या आज्ञायें हैं, अर्थात् हत्या, चोरी, झूठ, व्यभिचार और मादक द्रव्यों को छोड़ दो।

और अपना संकल्प प्रकट करने का भाव, विधि और अनुष्ठान वही हैं (जो कि श्रमणेर पद की दीक्षा चाहनेवालों के लिए हैं)। परन्तु श्रमणेर की अवस्था में, विनय-पुस्तकों में दिये हुए बारह विषयों के व्यतिक्रम से अपराध नहीं लगता; किन्तु शिक्षमाणा (स्त्री) के लिए इस नियम के कुछ रूपान्तर हैं। अब वे बारह विषय कौन-कौन-से हैं ?

१. (विधिविहित और विधिविरुद्ध) परिधानों में भेद करना चाहिए।

२. कपड़ों के बिना न सोना चाहिए।

३. आग* को छूना न चाहिए।

४. बहुत अधिक भोजन न करना चाहिए।

५. किसी प्राणी की हानि न करनी चाहिए।

६. हरी घास पर मैल न फेंकना चाहिए।

७. (प्रयोजन को छोड़कर) कभी प्रमाद से ऊँचे वृक्ष पर न चढ़ना चाहिए।

८. रत्नों को न छूना चाहिए।

९. जूठा भोजन न खाना चाहिए।

१०. भूमि न खोदनी चाहिए।

११. दिये हुए भोजन को लेने से इनकार न करना चाहिए।

१२. उगती हुई कोंपलों को हानि न पहुँचानी चाहिए।

दो निचली श्रेणियों के लोगों (अर्थात् श्रमणेरों और श्रमणेरियों) को इन बारह बातों के अनुसार चलने का प्रयोजन नहीं। परन्तु यदि शिक्षमाणा पिछली पाँच बातों (८–१२ तक) का पालन न करेगी तो उन्हें दोष आयगा। इन तीन निम्न श्रेणियों को वर्ष (ग्रीष्म-एकान्त) भी करना पड़ता है।

---

* काश्यप के अनुसार यह खुली भूमि में आग जलाना है।

(स्त्रियों के लिए) छः आवश्यक और छः गौण नियम अन्यत्र दिये गये हैं*। यदि उन्होंने किसी नियम को भंग करने का दोष न किया हो तो वे 'धर्म्मानुकूल आचरण करनेवाली' समझी जा सकती हैं; उस अवस्था में वे यथोचित रूप से पांच परिषदों में समाविष्ट हो सकती और उनके लाभों की भागी हो सकती हैं।

जब नव शिष्य सभी धर्म्मानुष्ठानों को जान ले और जब वह आवश्यक आयु† को पहुँच जाय तब, यदि वह उपसम्पदा पाने का अभिलाषी हो तो, उपाध्याय अपने शिष्य में उपदेशों पर चलने की इच्छा और

---

* विनय-संग्रह अध्याय १२ में स्त्रियों के लिए छः मुख्य और छः गौण नियम दिये हैं—

क. छः आवश्यक नियम—

१. स्त्री अकेली यात्रा न करे।
२. स्त्री अकेली नदी पार न करे।
३. स्त्री पुरुष के शरीर का स्पर्श न करे।
४. स्त्री पुरुष के साथ एक ही स्थान में न रहे।
५. स्त्री लोगों की सगाइयाँ कराने का काम न करे।
६. स्त्री किसी भिक्षुणी के किये हुए भारी अपराध को न छिपावे।

ख. छः गौण नियम—

१. स्त्री वह सोना या चाँदी न ले, जो उसका अपना न हो।
२. स्त्री सिर को छोड़कर और किसी स्थान पर बाल न मूँड़े।
३. स्त्री बिना जोती हुई भूमि को न खोदे।
४. स्त्री बढ़ती हुई घास अथवा पेड़ को इच्छापूर्वक न काटे।
५. स्त्री उस भोजन को न खाये, जो उसे नहीं दिया गया।
६. स्त्री उस भोजन को न खाये जो एक बार छुआ जा चुका हो।

† काश्यप के अनुसार बीस वर्ष की आयु। महावग्ग, १, ४९, ५।

बृहस्पति देखकर, उसके लिए छः परिष्कारों का प्रबन्ध करता और नौ दूसरे लोगों* को (संस्कार में भाग लेने के लिए) बुलाता है। यह संस्कार एक छोटे चबूतरे पर, या एक बड़े हाते में या एक स्वाभाविक सीमा के भीतर किया जा सकता है। आँगन में संघ की चटाइयों का उपयोग किया जा सकता है, या प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी चटाई का व्यवहार कर सकता है। धूप और पुष्प बहुत व्यय से तैयार किये जाते हैं। तब अर्थी को प्रत्येक उपस्थित भिक्षु को तीन बार प्रणाम करने, अथवा कभी-कभी प्रत्येक भिक्षु के पास जाकर उसके पैर छूने की शिक्षा दी जाती है। बुद्ध की शिक्षा के अनुसार ये दोनों प्रणाम की प्रक्रियायें हैं। इस संस्कार के पश्चात् उसे महाशील सीखने की आज्ञा दी जाती है। यह तीन बार कर चुकने पर, उपाध्याय उसे सङ्घ के सामने कपड़े और भिक्षापात्र देता है।

तब अर्थी को भिक्षा-पात्र लेकर चारों ओर घूमना और इसे वहाँ एकत्रित भिक्षुओं में से प्रत्येक को क्रमशः दिखलाना होता है। यदि वह ठीक हो, तो सभी एकत्रित भिक्षु कहते हैं—'अच्छा भिक्षा-पात्र'; यदि वे ऐसा न कहें तो उन्हें धर्म्म के अतिक्रमण का दोष लगता है। इसके बाद, अर्थी को व्यवस्था के अनुसार भिक्षा-पात्र ग्रहण करना होता है। तब कर्म करानेवाला आचार्य उसको, पुस्तक पढ़कर जो उसके सामने पकड़कर ऊपर उठा दी होती है, या मुंह में बोलकर, महाशील देता है; क्योंकि बुद्ध ने दोनों की आज्ञा दी है। महाशील पानेवाला उपसम्पन्न (जिसे उपसम्पदा मिल चुकी है) कहलाता है।

ज्यों ही संस्कार समाप्त हो, (उपसम्पदा की तिथि का निश्चय करने के लिए) चटपट सूर्य की छाया को नापना और ऋतु (पाँच होती हैं) का नाम भी लिख लेना चाहिए।

छाया को नापने की रीति यह है। कोई एक हाथ लम्बा पतली-सी

---

* काश्यप के अनुसार, सब मिलाकर दस उपाध्याय होने चाहिए।

लकड़ी का टुकड़ा लो; सिरे से चार अंगुल पर इसे, बढ़ई के गुनिये के रूप में, झुकाओ। इसका छोटा सिरा ऊपर को उठा रहे परन्तु साथ ही दूसरा (लम्बा) सिरा छड़ी के लम्बरूप भाग से अलग न होने पावे। मध्याह्न को, जब छड़ी के लम्बे सिरे को भूमि के साथ रक्खा जाता है, तब इसके लम्बरूप भाग की छाया छड़ी के दिगन्तसम भाग पर पड़ती है। पड़नेवाली छाया को चार अंगुल के साथ मापा जाता है। यदि छाया ठीक चार अंगुल भर लम्बी हो तो यह माप एक पुरुष (पौरुष)* कहलाती है, और इस प्रकार समय की माप इतने पुरुष या कभी-कभी एक पुरुष और एक अंगुल या आध अंगुल, या केवल एक अंगुल इत्यादि (जब ठीक एक पुरुष के बराबर माप न हो) चलती रहती है। इस रीति में (समय के भेद) अंगुलों को मिलाने और घटाने से मापे और समझे जाते हैं।

(इ-त्सिङ्ग की टीका)—पुरुष का अर्थ है 'मनुष्य'; चार अंगुल माप की छाया को 'एक-पुरुष' कहने का कारण यह है कि जब लम्बरूप छड़ी, जो स्वयं चार अंगुल होती है, की छाया भी दिगन्तसम छड़ी पर लम्बाई में चार अंगुल हो, तब भूमि पर पड़नेवाली मनुष्य की छाया उतनी ही लम्बी होती है, जितनी कि उस मनुष्य की वास्तविक ऊँचाई। जब लम्बरूप छड़ी की छाया दिगन्तसम छड़ी पर लम्बाई में आठ अंगुल हो, तब भूमि पर पुरुष की छाया उसके शरीर की ऊँचाई से ठीक दुगुनी होगी। यह बात मध्यम परिमाण के पुरुष की है; सब जनों की आवश्यकरूप से नहीं†। इस रीति से और मापें भी ली जाती हैं।

---

* पुरुष का अर्थ, माप के रूप में, प्रायः होता है एक मनुष्य की लम्बाई जिसने अपनी बाँहें और उँगलियाँ फैलाई हुई हों। परन्तु इ-त्सिङ्ग के अनुसार इसका अर्थ चार अंगुल है।

† इ-त्सिङ्ग का यह कथन सत्य नहीं जान पड़ता। सबके साथ इसका एक जैसा होना जरूरी है।

यह बात (कि उपसम्पदा-संस्कार हो चुका है) भोजन के पहले या पश्चात् कह देनी चाहिए। जब अभ्र छाया हो, या रात हो, तब समय की माप उचित रीति से करनी चाहिए।

भारत और दक्षिणी सागर के द्वीपों के सभी भिक्षु जब आपस में पहली बार मिलते हैं तब पूछते हैं—'आर्य, आप कितने वर्ष (ग्रीष्म-एकान्त) बिता चुके हैं?' जिससे प्रश्न किया जाता है वह उत्तर देता है—'इतने'। यदि उन्होंने एक समान ही 'वर्ष' बिताये हों तो एक दूसरे से पूछता है कि किस ऋतु में दीक्षा मिली थी? यदि संयोग से दोनों को एक ही ऋतु में उपसम्पदा मिली हो तो संलापक फिर पूछता है कि उस ऋतु में कितने दिन रह गये थे। यदि दिनों की संख्या अब भी उतनी ही हो तो एक दूसरे से पूछता है कि उस दिन तुम्हें भोजन से पहले उपसम्पदा मिली थी या उसके पीछे। यदि दोनों को उसी दिन पूर्वाह्ण को मिली हो तो छाया की लम्बाई पूछी जाती है; यदि इसमें भेद हो तो दोनों में से एक की ज्येष्ठता का निश्चय हो जाता है। परन्तु यदि छाया एक समान हो तो उनमें कोई भेद नहीं होता। इस अवस्था में स्थानों का क्रम पहले आनेवालों के अनुसार निश्चित किया जाता है, या कर्मदान उन्हें अपना निर्णय आप ही कर लेने देता है। जो लोग भारत को जायें उन्हें ये बातें अवश्य पूछनी चाहिए। यह चीन की रीति से कुछ भिन्न है। चीन में भिक्षु लोग केवल उपसम्पदा की तिथि ही बताते हैं। परन्तु नालन्द-विहार में भिक्षुओं को 'लम्बी ऋतु' के पहले दिन, प्रायः तड़के ही—जब अभी पौ फटने ही लगती है—उपसम्पदा दी जाती है। उनका तात्पर्य उन लोगों में ज्येष्ठता का दावा करने से होता है जिनको एक ही ग्रीष्म में उपसम्पदा मिली हो। यह चीन के छठे चन्द्रमा के १७वें दिन का तड़का होता है; (वे इसलिए ऐसा करते हैं क्योंकि फिर) वे दूसरा 'वर्ष'* नहीं प्राप्त कर सकते।

---

*एक साल में दो वर्ष (ग्रीष्म-एकान्त) होते हैं; पहला ५वें चन्द्रमा

यदि मनुष्य उस समय उपसम्पदा लाभ करता है जब कि ६ठे चन्द्रमा के १६वें दिन की रात (अर्थात् दूसरे वर्ष का आरम्भ होने के एक दिन पहले) समाप्त होने को होती है, तो वह उस ग्रीष्म में दीक्षा पानेवाले लोगों में सबसे छोटा होगा। (जब मनुष्य को ६ठे चन्द्रमा के १७वें दिन के उषःकाल में, अर्थात् दूसरे वर्ष के आरम्भ में, उपसम्पदा मिलती है तो) वह दूसरा वर्ष भी लाभ करता है, और इसलिए उसे उपसम्पदा के अनन्तर, अपने उपाध्यायों के अतिरिक्त जिन्हें कुछ न कुछ—चाहे वह तुच्छ हो या बहुत जियादह—अवश्य देना चाहिए, दूसरों को कुछ भी भेंट देने का प्रयोजन नहीं। कोई कटिबन्ध या चालनी-जैसी चीज लाकर अमोघ कृतज्ञता प्रकट करने के लिए उन उपाध्यायों की भेंट करनी चाहिए जो उपसम्पदा के स्थान पर उपस्थित हों और उसमें भाग लेते हों। तब उपाध्याय प्रातिमोक्ष के विषय को प्रकाशित करके अर्थी को अपराधों का स्वरूप और सूत्रों के बोलने की रीति सिखाता है।

इनको सीख लेने के अनन्तर, अर्थी बड़े विनय-पिटक को पढ़ना आरम्भ करता है। वह उसे प्रतिदिन पढ़ता है, और प्रतिदिन सबेरे उसकी परीक्षा होती है, क्योंकि यदि वह निरन्तर इसमें न लगा रहे तो उसकी मानसिक शक्ति नष्ट हो जायगी। विनय-पिटक पढ़ चुकने के पश्चात् वह सूत्र और शास्त्र सीखना आरम्भ करता है। भारत में उपाध्यायों की अध्यापन-शैली ऐसी ही है। यद्यपि महामुनि को हुए बहुत दीर्घ काल बीत चुका है, तो भी ऐसी रीति अब तक निर्विघ्न जारी है। ये दो उपाध्याय

के कृष्ण पक्ष के पहले दिन आरम्भ होकर ८वें चन्द्रमा के मध्य में समाप्त होता है; और दूसरा ६ठे चन्द्रमा के कृष्ण पक्ष के पहले दिन आरम्भ होकर ९वें चन्द्रमा के मध्य में समाप्त होता है। यदि किसी को ६ठे चन्द्रमा की १७वीं को, अर्थात् दूसरे ग्रीष्म के आरम्भ में उपसम्पदा मिले तो वह दूसरे और पहले दोनों वर्षों के निवास का दावा कर सकता है। लड़के का समय चुनने का अर्थ भी जल्दी उपसम्पदा लेना है।

और कर्माचार्य, माता-पिता के सदृश हैं। जिस मनुष्य ने उपसम्पदा की प्राप्ति के लिए असाधारण परिश्रम किया हो उसके लिए उपसम्पदा पाने के अनन्तर उपदेशों पर ध्यान न देना क्या उचित हो सकता है ?

निस्सन्देह यह खेद का विषय है कि ऐसे आरम्भ का कोई सन्तोषजनक अन्त न हो। कुछ लोग ऐसे हैं, जिन्होंने अपने उपाध्यायों को पहली बार मिलने पर, उपसम्पदा-प्राप्ति की इच्छा प्रकट करने के अनन्तर, उपसम्पदा के पीछे फिर कभी अपना मुँह नहीं दिखाया; न वे उपदेशों की पुस्तक पढ़ते हैं न विनय-ग्रन्थों को ही खोलते हैं; ऐसे मनुष्यों को वृथा ही भिक्षु बनाया गया है। वे अपने लिए तथा दूसरों के लिए भी हानिकर हैं। इस प्रकार के लोग धर्म्म का नाश करते हैं।

भारतीय भिक्षुओं की पदवियाँ (मूलार्थतः अनुष्ठान के नियम) निम्नलिखित हैं।

उपसम्पदा की दीक्षा के अनन्तर, भिक्षु च-गा-र (अर्थात् दहर) कहलाता है, जिसका अनुवाद 'छोटा उपाध्याय' किया जाता है। और जिन्होंने दस 'वर्ष' पूर्ण रूप से बिता लिये हों वे 'स्थर' कहलाते हैं, जिसका अनुवाद 'अचल स्थिति' किया गया है, क्योंकि स्थविर किसी शिक्षक की रक्षा के अधीन रहे बिना अपने आप रह सकता है। वह उपाध्याय भी बन सकता है। जो मनुष्य उपाध्याय बनता है उसके लिए स्थविर होना और पूरे दस वर्ष (ग्रीष्म-एकान्त) बिता चुकना आवश्यक है।

वे श्वेताम्बर लोग (सामान्य भक्तजन), जो भिक्षु के मकान पर आते और मुख्यतः बौद्ध-धर्म्म-ग्रन्थ इस उद्देश्य से पढ़ते हैं कि वे एक दिन सिरमुँड़े और काले कपड़ोंवाले बन जायँ, 'बच्चे' (मानव) कहलाते हैं। जो लोग (भिक्षु के पास आकर) केवल सांसारिक साहित्य ही पढ़ना चाहते हैं, और उनकी संसार को छोड़ने की कुछ भी इच्छा नहीं होती, वे ब्रह्मचारिन् कहलाते हैं। मनुष्यों के इन समूहों को (विहार में रहते हुए भी) अपने व्यय पर निर्वाह करना होता है।

(इ-त्सिङ्ग की टीका)---भारत के विहारों में ऐसे ब्रह्मचारी अनेक हैं जो भिक्षुओं के सिपुर्द हैं और उनसे सांसारिक विद्या की शिक्षा पाते हैं। इन ब्रह्मचारियों को सङ्घ की स्थायी सम्पत्ति से भोजन नहीं दिया जाना चाहिए, क्योंकि बुद्ध की शिक्षा में इसका निषेध है परन्तु यदि उन्होंने सङ्घ के लिए कोई भारी काम किया हो तो उनकी योग्यता के अनुसार उन्हें विहार से भोजन मिलना चाहिए। परन्तु साधारण प्रयोजनों के लिए बनाया हुआ या ब्रह्मचारियों के उपयोग के लिए दानी का दिया हुआ भोजन ब्रह्मचारियों को देने में कोई दोष नहीं।

बुद्ध की छाया नाग नदी से लोप हो गई है, और उसके तेज की ज्योति गृध्रकूट से अन्तर्धान हो गई है; हमारे पास कितने अर्हत ऐसे हैं जो पवित्र धर्म्म का उपदेश दे सकते हैं?

एक शास्त्र में इस प्रकार कहा है---'जब महाकेसरी ने अपनी आँखें बन्द कीं तब सारे साक्षी भी एक दूसरे के पश्चात् चले गये। संसार और भी अधिक विकार से मैला हो गया। मनुष्य को (नैतिक विनय का) उल्लङ्घन किये बिना अपने विषय में चौकस रहना चाहिए।' .

सभी धर्म्मपरायण लोगों को धर्म्म की रक्षा में मिल जाना चाहिए। परन्तु यदि तुम, आलसी और निरुद्योग होने से, मानवी प्रवृत्ति को कार्य करने दोगे तो तुम मानवों और देवों को क्या करोगे जिनका नेतृत्व तुम्हारे सिपुर्द है?

विनय में कहा है---'जब तक कर्माचार्य है, मेरे धर्म्म का नाश न होगा। यदि कर्म (नियमों) को रखने और सँभालनेवाला कोई न होगा तो मेरे धर्म्म का अन्त हो जायगा।' यह भी कहा है---'जब तक मेरे उपदेश विद्यमान हैं, मैं जीता हूँ।' ये खाली बातें नहीं, वरन् इनमें गहरे अर्थ हैं, इसलिए इनका यथायोग्य सम्मान होना चाहिए। फिर मैं इसी को कवित्वमय भाषा में प्रकट करता हूँ---

गुरुदेव की छाया लोप हो गई है, और धर्म्म के प्रधान उच्चपदस्थ

लोग भी हमारे पास से चले गये हैं। नास्तिक लोग पर्वत के समान ऊँचे खड़े हैं, और उपकारशीलता की छोटी पहाड़ी भी नष्ट हो रही है।

सूर्य-सदृश बुद्ध की प्रभा की रक्षा करना वास्तव में धर्म्मात्माओं और बुद्धिमानों का काम है। यदि मनुष्य सङ्कीर्ण मार्ग पर चलता है तो वह बड़े मार्गों की शिक्षा कैसे दे सकता है? सौभाग्य से (सुधर्म्म) चतुर लोगों को दिया गया है, जिन्हें इसको परिश्रम से उन्नत करना है।

आशा की जाती है कि मनुष्य धर्म्म को न केवल मलिनता से बचाकर वरन् इसके सौरभ को दूर-दूर के युगों तक फैलनेवाला बनाकर, इसका प्रचार और संचार करेगा। 'धर्म्म को और भी अधिक सुवासित बनाने' का क्या तात्पर्य है? यह शील-सागर में तरङ्ग उत्पन्न करना है। इस प्रकार बुद्ध की शिक्षा, यद्यपि यह पहले ही समाप्ति के निकट पहुँच चुकी है, समाप्त न हो जाय, और धर्म्म का अनुष्ठान---यद्यपि इसे भ्रमों से प्रायः हानि पहुँच चुकी है---अनुचित न हो जाय। हमें अपने अनुष्ठान को राजगृह में दी हुई यथार्थ शिक्षा के अनुकूल बनाना, और जेताराम में बताई हुई पवित्र विनय की बात पर आने के यत्न करना चाहिए।

[१९]

उचित समयों पर स्नान

अब मैं स्नान की रीति का वर्णन करूँगा। भारत का स्नान चीन के स्नान से भिन्न है। वहाँ सब ऋतुओं में, दूसरे प्रदेशों से कुछ-कुछ भिन्न, मौसम परिमित रहता है। फूल और फल सदा, यहाँ तक कि वर्ष के प्रत्येक मास में रहते हैं। हिम और बर्फ़ का नाम तक नहीं रहता। कुहरा पड़ता है, पर बहुत हलका। यद्यपि (विशेष-ऋतुओं में) गरमी होती है, पर ताप बहुत प्रचण्ड नहीं होता; और गरम से गरम मौसम में भी लोग 'चुभनेवाली गरमी' से कष्ट नहीं पाते। जब बहुत सरदी होती है तब उनके पैर नहीं फटते, क्योंकि वे बार-बार

नहाते-धोते रहते हैं, और शरीर की पवित्रता पर बहुत ध्यान देते हैं। अपने दैनिक जीवन में वे स्नान किये बिना नहीं खाते।

तालाबों में सब कहीं जल बहुतायत से है। तालाब बनाना पुण्य समझा जाता है। यदि हम केवल एक ही योजन जायें तो हमें बीस-तीस नहाने के घाट दिखाई देंगे। उनके परिमाण भिन्न-भिन्न हैं, कोई एक मौउ (या लगभग ७३३$\frac{1}{3}$ वर्ग गज) है और कोई पाँच मौउ। तालाब के चारों ओर शाल के वृक्ष लगाये जाते हैं, जो कोई चालीस-पचास फ़ुट ऊँचे होते हैं। इन सब तालाबों को वर्षा के जल से भरा जाता है, और ये शुद्ध नदी की तरह निर्मल होते हैं। आठ चैत्यों* में से प्रत्येक के निकट एक-एक तालाब है, जहाँ जगद्बन्द्य (बुद्ध) स्नान किया करते थे। इन तालाबों का जल, दूसरे तालाबों के जल से भिन्न, बहुत ही शुद्ध है।

नालन्द विहार के निकट दस से अधिक बड़े-बड़े तालाब हैं, और

*आठ चैत्य ये हैं—

१. बुद्ध के जन्म-स्थान में लुम्बिनी-आराम, कपिलवस्तु, में।

२. मगध में निरजना नदी के समीप बोधि-वृक्ष के नीचे, जहाँ बुद्धत्व प्राप्त हुआ था।

३. काशियों के देश के अन्तर्गत वाराणसी (बनारस) में, जहाँ बुद्ध ने पहले पहल अपने धर्म का प्रचार किया था।

४. जेताराम, श्रावस्ती, में जहाँ बुद्ध ने अपनी बड़ी अलौकिक शक्तियाँ दिखलाई थीं।

५. कान्यकुब्ज (कन्नौज) में, जहाँ बुद्ध त्रयस्त्रिंश स्वर्ग से उतरा था।

६. राज-गृह में, जहाँ शिष्यों में बाँट हो गई थी, और बुद्ध ने उन्हें तदनुसार शिक्षा दी थी।

७. वैशाली में, जहाँ बुद्ध प्रायः आयु भर उपदेश देते रहे।

८. कुशिनगर में शाल-वृक्षों की बड़ी पंक्ति में जहाँ बुद्ध निर्वाण को प्राप्त हुए थे।

प्रतिदिन सबेरे भिक्षुओं को स्नान-काल का स्मरण कराने के लिए एक घण्टी बजाई जाती है। प्रत्येक मनुष्य अपने साथ स्नान के लिए अँगोछा लाता है। कभी-कभी सौ, कभी-कभी एक सहस्र (भिक्षु) इकट्ठे विहार से निकलते हैं, और इन तालाबों की ओर सब दिशाओं में जाकर सबके सब स्नान करते हैं।

अँगोछे के विषय में नियम इस प्रकार है—पाँच फ़ुट लम्बा और डेढ़ फ़ुट चौड़ा एक नर्म कपड़े का टुकड़ा लेकर उसे (अन्तरीय के ऊपर) शरीर के गिर्द लपेटो। अन्तरीय को खोलकर बाहर निकाल लो, और अँगोछे के दोनों सिरों को सामने ले आओ। तब बायें सिरे के ऊपरी कोने को बायें हाथ से पकड़ो, और उसे कमर की ओर ऊपर को खींचकर शरीर से छूने दो; इसे अँगोछे के बायें सिरे के साथ जोड़ दो; और दोनों को मरोड़कर, उन्हें कपड़े और शरीर के बीच खोंस दो। अँगोछा पहनने की यही रीति है। सोते समय अन्तरीय पहनने का भी यही नियम है। जब मनुष्य स्नान-घाट से बाहर आने को हो तब उसे अपने शरीर को हिलाना और पानी से बहुत धीरे-धीरे बाहर निकलना चाहिए, ताकि कहीं कपड़े के साथ लगे हुए कुछ कीड़े न बाहर निकल आयें। (जल से निकलकर) किनारे पर आने की रीति के विषय के नियम विनय-ग्रन्थों में दिये गये हैं। तालाब गये बिना, विहार में ही स्नान करने की अवस्था में, अँगोछा उसी प्रकार बाँधा जाता है, परन्तु जल दूसरा मनुष्य डालता है, और स्नान के लिए उस स्थान के गिर्द एक घेरा बनाना पड़ता है।

जगत्-पूज्य ने स्नानागार बनाने, खुले स्थान में ईंटों का तालाब निर्माण करने, और रोग-शान्ति के लिए औषधीय स्नान तैयार करने की विधि बताई है। कभी वे सारे शरीर पर तेल की मालिश करने, कभी प्रतिदिन रात को पैरों में, या प्रतिदिन सबेरे सिर में तेल मलने की आज्ञा देते थे; क्योंकि यह क्रिया नेत्रों की दृष्टि को साफ़ और शीत को दूर रखने के लिए बहुत अच्छी है।

इन सब बातों के विषय में हमारे पास धार्मिक प्रमाण है। वह इतना

बृहदाकार हैं कि यहाँ वह पूर्ण रूप से बताया नहीं जा सकता। विनय-पुस्तकों में इसका सविस्तर वर्णन है। फिर, स्नान सदा उस समय करना चाहिए जब मनुष्य भूखा हो। स्नान के अनन्तर भोजन करने से दो प्रकार के लाभ होते हैं। पहले, सब प्रकार के मैल से मुक्त होने के कारण शरीर शुद्ध और खाली हो जाता है। दूसरे, भोजन भली भाँति पच जायगा, क्योंकि स्नान से मनुष्य कफ और भीतरी इन्द्रियों के रोगों से मुक्त हो जाता है। अच्छे भोजन (मूलार्थतः, बहुत-सा खाने) के पश्चात् नहाना चिकित्सा-शास्त्र के अनुसार निषिद्ध है। बिना किसी वस्त्र के स्नान करना बुद्ध की शिक्षा के विपरीत है। लोगों को एक ऐसे कपड़े के बने हुए स्नान-परिधान का उपयोग करना चाहिए जिसकी लम्बाई उसकी चौड़ाई से चौगुनी हो; तब वह समुचित रीति से शरीर को ढक सकता है। ऐसी रीति न केवल बुद्ध की श्रेष्ठ शिक्षा के साथ पूर्ण रूप से एकतान है, वरन् मानवों और देवों के सामने लज्जा भी उत्पन्न नहीं करती। दूसरी बातों के उचित या अनुचित होने के विषय में बुद्धिमानों को सावधानी से अपने आप निर्णय कर लेना चाहिए। रात्रि-स्नान में भी मनुष्य को उचित रीति का परित्याग न करना चाहिए।

[२०]

निद्रा और विश्राम के नियम

भारत में (विहार की) कोठरियाँ लम्बी-चौड़ी नहीं होतीं, और निवास करनेवाले बहुत होते हैं, इसलिए सोनेवालों के उठ जाने पर पलँग उठवा दिये जाते हैं। या तो उन्हें कमरे के एक कोने में अलग रख दिया जाता है या कमरे से बाहर निकाल दिया जाता है। पलँग की चौड़ाई दो हस्त (३ फ़ुट) और उसकी लम्बाई चार हस्त (६ फ़ुट) होती है। चटाई इसी परिमाण की बनाई जाती है, और भारी नहीं होती। (कोठरी का) फ़र्श गाय का सूखा गोबर छितराकर साफ़ किया जाता है। फिर कुरसियाँ, लकड़ी के फलक, छोटी चटाइयाँ इत्यादि सिलसिले

से रक्खी जाती हैं। सब साधारण रूप से भिक्षुगण अपनी-अपनी पदवी के अनुसार बैठते हैं। आवश्यक बर्तन आलों में रख दिये जाते हैं।

संघ के बिछौने का उपयोग करते समय, शरीर और बिछौने के बीच में कुछ रख लेना चाहिए; और इसी प्रयोजन के लिए चटाई (निषीदन) का उपयोग किया जाता है। यदि मनुष्य इस नियम का पालन न करेगा तो उसे 'काली पीठ-रूपी' प्रतिफल भोगना पड़ेगा। इस विषय में बुद्ध की कड़ी आज्ञायें हैं, और हमें इस विषय में बहुत सावधान होना चाहिए।

दक्षिण-सागर के दस द्वीपों और भारत (मूलार्थतः पश्चिम) के पाँच खण्डों में, लोग सिर को ऊँचा करने के लए काठ के तकिया का उपयोग नहीं करते। यह रीति केवल चीन में ही है।

तकिया का खोल बनाने की रीति प्रायः सारे पश्चिम में एक-सी है। कपड़ा रेशम या पटुए का होता है; रंग अपनी-अपनी पसन्द के अनुसार भिन्न-भिन्न होते हैं। इसे सीकर एक हस्त लम्बा और आधा हस्त चौड़ा एक चौकोर थैला बना लिया जाता है। तकिया में कोई भी योग्य घरेलू उपज भर दी जाती है, जैसा कि ऊन, सन के टुकड़े (या रद्दी पटुआ), दूब बेंत के झोंपे, नरकट कोमल पत्तियाँ, सन या लोबिया; गरम या शरद ऋतु के अनुसार यह ऊँचा या नीचा बनाया जाता है, इसके बनाने का उद्देश्य सुख पाना और अपने शरीर को विश्राम देना है।

वास्तव में इसके कठोर होने का कोई डर नहीं। परन्तु लकड़ी का तकिया कठोर और खड़खड़ा होता है। इससे गर्दन के नीचे से पवन गुजर जाती है, और बहुधा सिर में पीड़ा होने लगती है। परन्तु देश के अनुसार रीतियों में भेद है; मैं यहाँ केवल वही वर्णन कर रहा हूँ जो कि मैंने एक पराये देश में सुना है। इसलिए, इसका पालन करना चाहिए या नहीं, इसका निर्णय मनुष्य अपनी प्रवृत्ति से करें। परन्तु गरम चीजें सरदी से बचाती हैं और सन या लोबिए, बहुत गुणकारी होने के अति-रिक्त, नेत्र-दृष्टि के लिए अच्छे हैं। इसलिए, ऐसी वस्तुओं का उपयोग करने में कोई भूल नहीं कही जा सकती। ठण्डे देश में यदि कोई अपना

सिर नङ्गा रक्खे तो प्रायः ठण्ढ (या कड़ा ज्वर) लग जाती है। हेमन्त के महीनों में सर्दी इसी कारण होती है। यदि उचित समयों पर मनुष्य सिर को गरम रक्खे तो कोई कष्ट या रोग न होगा। (चीन की) कहावत, 'सिर ठण्ढा और पैर गरम,' पर सदा भरोसा नहीं किया जा सकता।

जिन कमरों में भिक्षु रहते हैं वहाँ कभी-कभी, एक खिड़की में या विशेष रूप से बनाये हुए आले में, एक पवित्र प्रतिमा स्थापित की जाती है। भोजन करते समय भिक्षु लोग प्रतिमा को पटुआ के कपड़े के परदे की ओट में छिपा देते हैं। वे उसे प्रतिदिन सबेरे स्नान कराते, और सदा धूप और पुष्प चढ़ाते हैं। प्रतिदिन मध्याह्न को जो भोजन खाने को होता है उसके एक भाग की बलि सच्चे हृदय से देते हैं। जिस सन्दूक में धर्म-ग्रन्थ होते हैं, वह एक ओर रक्खा जाता है। सोने के समय वे एक दूसरे कमरे में चले जाते हैं। दक्षिणी सागर के द्वीपों में भी यही रीति है। भिक्षुओं के अपने निजी कमरों में पूजा करने की साधारण रीति नीचे दी जाती है।

प्रत्येक विहार की एक पवित्र प्रतिमा होती है, जो कि एक विशेष मन्दिर में स्थापित की जाती है। जब प्रतिमा बन चुके तब उसके बाद भिक्षु को आयु-पर्यन्त उसे स्नान कराने में कभी चूकना न चाहिए। और इस बात की आज्ञा नहीं है कि केवल उपवास के दिन ही भोजन की साधारण बलि दी जाय। यदि इन नियमों का पालन किया जाय तो उसी कमरे में प्रतिमा रखना बुरा नहीं। जब बुद्ध जीता था तब उसके शिष्य उन्हीं कमरों में रहा करते थे, और प्रतिमा वास्तविक व्यक्ति की प्रतिनिधि होती है; हम बिना किसी हानि के उन्हीं कमरों में रह सकते हैं। इस परम्परागत रीति पर भारत में चिरकाल से आचरण किया जाता है।

[२१]

स्वास्थ्य के लिए उचित व्यायाम के लाभ पर

भारत के भिक्षुओं और सामान्य भक्तजनों का उचित समय पर टहलने का प्रायः स्वभाव है; वे शोरवाले स्थानों से बचते हैं। एक तो

इससे रोग शान्त होते हैं, और दूसरे, यह भोजन के पचाने में सहायता देता है। टहलने का समय पूर्वाह्न (ग्यारह बजे से पहले) और अपराह्न है। जो मनुष्य इस व्यायाम की उपेक्षा करता है, वह रुग्ण हो जाता है। प्रायः उसकी टाँगें अथवा पेट फूल जाता है, और कोहनी या कन्धों में पीड़ा होने लगती है। इसके विपरीत, यदि कोई टहलने का यह स्वभाव बना लेता है तो इससे उसका शरीर अच्छा रहता है, जिससे उसकी धार्म्मिक योग्यता बढ़ती है। इसलिए गृध्रकूट पर, बोधिवृक्ष के नीचे, मृगदाव में, राजगृह में, और अन्य पवित्र स्थानों में ऐसे चंक्रम (विहार) हैं, जहाँ जगद्बन्धु (बुद्ध) टहला करते थे। वे कोई दो हाथ चौड़े, चौदह-पन्द्रह हाथ लम्बे, और ईंटों के बने हुए, दो हाथ ऊँचे हैं; प्रत्येक के ऊपरी भाग पर चूने की बनी हुई खिले हुए कमल के फूल की चौदह-पन्द्रह आकृतियाँ हैं, जो ऊँचाई में कोई दो हाथ (तीन फ़ुट), व्यास में एक फ़ुट, और (प्रत्येक प्रतिमा के तल पर) मुनि के चरण-चिह्न से अङ्कित हैं। इन विहारों के दोनों सिरों पर, मनुष्य के समान ऊँचा, एक छोटा-सा चैत्य है, जिसमें कभी-कभी पवित्र प्रतिमा—शाक्य मुनि की खड़ी मूर्ति—रक्खी होती है। जब कोई मनुष्य देवालय या चैत्य के इर्द-गिर्द बाईं ओर को चलता है, तब वह पुण्य के लिए ऐसा करता है; इसलिए उसे यह परिक्रमा एक विशेष पूजा-भाव के साथ करनी चाहिए। परन्तु जिस व्यायाम का वर्णन मैं अब कर रहा हूँ, वह वायु-सेवन के लिए है, और इसका उद्देश अपने आपको नीरोग रखना या रोगों को शान्त करना है।

[२२]

वन्दना एक दूसरे के अधीन नहीं

वन्दना के नियमों पर बुद्ध की शिक्षा के अनुसार आचरण करना चाहिए। जो उपसम्पदा को प्राप्त हो चुका है, और जिसकी दीक्षा की

स्थिति पहले है वह अपने से छोटों की वन्दना का अधिकारी है। बुद्ध ने कहा था कि 'वन्दना* के योग्य दो प्रकार के मनुष्य हैं; एक तो तथागत, दूसरे बड़े भिक्षु'। जब छोटा बड़े को देखे तब चुपचाप सम्मान प्रकट करता हुआ 'वन्दे' शब्द के साथ उसे प्रणाम करे; और बड़ा उस प्रणाम को स्वीकार करता हुआ, अपने हाथों को ठीक सामने करके, 'आरोग्य' कहे। यह शब्द इस बात का सूचक है कि कहनेवाला सम्बोधित व्यक्ति के लिए प्रार्थना करता है कि वह आरोग्य रहे। यदि वे ये शब्द न कहें तो दोषी ठहरते हैं। भारत के पाँच खण्डों के भिक्षुओं में ऐसा ही नियम है। फिर भी लोग प्रायः कहते हैं—'यदि वे इसके विपरीत आचरण करते हैं तो नियमों का पालन नहीं करते।' हा! वे श्रेष्ठ शिक्षा को बहुत कम समझते और व्यक्तिगत भावों के सामने सिर झुका देते हैं, और प्रणाम करने या वन्दना करने के नियमों का पालन नहीं करते। वास्तव में मनुष्य को इस बात पर बहुत ध्यान देना चाहिए।

[२३]

गुरु और शिष्य का परस्पर बर्ताव

शिष्यों (सद्धिविहारिक) की शिक्षा (धर्म के) अभ्युदय के लिए एक महत्त्व की बात है। यदि इसकी उपेक्षा की जायगी तो धर्म्म का विनाश अवश्यम्भावी है। हमें अपने कर्तव्यों का बड़े उद्योग से पालन करना चाहिए, और जाल के सदृश, जिसमें से पानी बह जाता है, (बहुत जियादा निरंकुश) न होना चाहिए।

---

* वन्दना के योग्य चार प्रकार के लोग गिनाये गये हैं—(१) तथागत, जिसका सम्मान सब करें; (२) प्रव्रजित, जिसकी साधारण भक्तजन वन्दना करें; (३) जिन भिक्षुओं को पहले उपसम्पदा मिल चुकी है उनकी वन्दना पीछे से उपसम्पदा पानेवाले भिक्षु करें; (४) जिन लोगों को उपसम्पदा मिल चुकी है उन्हें वे लोग प्रणाम करें जिन्हें अभी वह नहीं मिली।

विनय में कहा है—'प्रतिदिन तड़के शिष्य, दातुन करके, अपने गुरु के पास आये और उसकी सेवा करने के अनन्तर पवित्र प्रतिमा की पूजा और मन्दिर की परिक्रमा करे। तब अपने गुरु के पास वापस आकर वह, अपने चोले को ऊपर उठाकर, हाथ जोड़कर, (सिर के साथ पृथिवी को) तीन बार स्पर्श करते हुए, भूमि पर घुटनों के बल बैठे रहकर, दण्डवत् करे। फिर सिर को झुकाये और हाथों को जोड़े हुए वह गुरु से इस प्रकार पूछे—"मेरे उपाध्याय जी ध्यान दें," या "मेरे आचार्य जी ध्यान दें;" 'मैं अब पूछता हूँ कि क्या मेरे उपाध्याय जी रात भर अच्छे रहे हैं? क्या उनका शरीर, मूलार्थतः, चार महातत्त्व पूर्णरूप से स्वस्थ रहे हैं? क्या वे सुखपूर्वक और चुस्त हैं? उन्हें भोजन भली भाँति पच जाता है न? वे सबेरे के भोजन के लिए तैयार हैं न?' ये प्रश्न अवस्थाओं के अनुसार छोटे या पूरे हो सकते हैं। तब गुरु अपने स्वास्थ्य के सम्बन्ध के इन प्रश्नों का उत्तर देता है। फिर शिष्य पड़ोस की कोठरियों में अपने से बड़ों को प्रणाम करने जाता है। तत्पश्चात् धर्म्म-ग्रन्थ का कुछ भाग पढ़ता और जो कुछ उसने सीखा है उस पर विचार करता है। वह दिन पर दिन नया ज्ञान प्राप्त करता है और एक मिनट भी नष्ट किये बिना, मास पर मास, प्राचीन विषयों की खोज करता है।

साधारणतर अर्थात् प्रातःकाल के भोजन के समय तक प्रतीक्षा करके शिष्य को, अपनी भूख के अनुसार, भोजन करने की आज्ञा माँगनी चाहिए। उषाकाल से पहले ही उतावली से चावलों का पानी पीने से क्या लाभ है? जो इस प्रकार की उतावली करता है वह अपने गुरु को भी नहीं बताता, न दातुन करता है, और न कीड़ों के विषय में पानी की परीक्षा करने के लिए उसके पास समय होता है। यहाँ तक कि वह स्नान और शारीरिक स्वच्छता भी नहीं कर सकता। क्या ऐसे मनुष्य को यह ज्ञात नहीं कि वह बुद्ध की शिक्षा की चार बातों* का उल्लंघन करता

* बुद्ध की शिक्षा के उल्लंघन की चार बातें ये हैं—

हैं ? सब भूलें इन्हीं से उत्पन्न होती हैं। मैं प्रार्थना करता हूँ कि जिन लोगों पर धर्म्म की रक्षा का उत्तरदायित्व है, वे इन बातों की उचित रूप से व्यवस्था करें।

सिर मुंड़ा लेने, पट (सादा कपड़ा) धारण कर लेने और प्रव्रजित होने के अनन्तर उपसम्पदा प्राप्त कर लेने पर मनुष्य को पाँच बातें—जैसा कि विनय में विधान है—अपने शिक्षकों को बताने की आवश्यकता नहीं, परन्तु प्रकटनीय पाँच बातें बता देनी चाहिए; अन्यथा वह दोषी ठहरेगा। प्रकट करनेवाली पाँच बातें ये हैं—(१) दातुन करना; (२) जल पीना; (३) पाखाने जाना; (४) मूतना; (५) चैत्य-वन्दन, अर्थात् पवित्र सीमा में उनचास व्यामों के अन्दर-अन्दर चैत्य की पूजा करना। उदाहरणार्थ, जब नव छात्र भोजन करने लगे तब वह अपने उपाध्याय के पास जाकर नियमानुसार प्रणाम करे और इस प्रकार कहे—'मेरे उपाध्याय ध्यान दें; मैं अब आपको सूचना देता हूँ कि मैं हाथ और बर्तन धोता हूँ और भोजन करना चाहता हूँ।' उपाध्याय कहे, 'सावधान हो।' शेष सब घोषणायें इस उदाहरण के अनुसार करनी चाहिए। उपाध्याय तब शिष्य को बताता है कि घोषणा के विषय और समय के विषय में क्या करना चाहिए। जब घोषणा के लिए अनेक बातें हों तब शिष्य सबकी घोषणा एकबारगी कर सकता है। विनय पर अधिकार हो जाने के बाद, ५ ग्रीष्म बीत जाने पर, शिष्य को अपने उपाध्याय से अलग रहने की आज्ञा मिल जाती है। तब वह लोगों में घूम सकता और किसी दूसरे लक्ष्य के पीछे जा सकता है। फिर भी जहाँ कहीं वह जाय उसे, किसी उपाध्याय की रक्षा में ही रहना चाहिए। यह बात १० ग्रीष्मों के बीतने पर, अर्थात् उसके विनय को समझने में समर्थ हो जाने के बाद, बन्द हो जायगी। महामुनि का सदय प्रयोजन मनुष्य को इस अवस्था पर लाना

---

(१) सूर्योदय से पहले खाना, (२) उपाध्याय को न बताना कि मैं भोजन करने लगा हूँ, (३) दातुन न करना, और (४) कीड़ों के विषय में जल की परीक्षा न करना (काश्यप)।

है। यदि भिक्षु विनय को नहीं समझता तो उसे आजन्म दूसरे की रक्षा में रहना होगा। यदि कोई बड़ा उपाध्याय न हो तो उसे किसी छोटे उपाध्याय की देख-भाल में रहना चाहिए। इस अवस्था में शिष्य वन्दना के सिवा और सब कुछ करे, क्योंकि वह सवेरे अपने उपाध्याय को प्रणाम नहीं कर सकता, और न उसके स्वास्थ्य का समाचार पूछ सकता है, क्योंकि उसे सदा विनय के अनुसार आचरण करना चाहिए, परन्तु विनय का उसे ज्ञान नहीं; और यदि किसी विषय की घोषणा करनी आवश्यक भी हो तो वह कैसे कर सकता है, जब कि वह स्वयं रीति को नहीं समझता। कभी-कभी छोटा उपाध्याय सवेरे और साँझ को उसे शिक्षा देता है। यद्यपि छोटा उपाध्याय ऐसे शिष्य को उपदेश करता भी है, तो भी हो सकता है कि विनय-पुस्तक के अर्थ यथोचित रूप से उसकी समझ में न आयें। क्योंकि यदि प्रकट करनेवाला (अर्थात् शिष्य) अपनी बात को ठीक तौर पर नहीं बता सकता तो उत्तर देनेवाला (अर्थात् उपाध्याय) कैसे उचित आज्ञा दे सकता है। इसलिए पूरा पूरा अङ्गीकार नहीं किया जाता। परन्तु असावधानी चिरकाल से स्वभाव बन गया है; सुगम मार्ग पर चलते हुए लोग धर्म्मानुकूल होने का कष्ट नहीं करते।

यदि हम बुद्ध की शिक्षा के अनुसार आचरण करें तो धर्म्म-परम्परा कभी न रुकेगी। यदि उसके नियमों को तुच्छ समझा जायगा तो फिर कौन-सी दूसरी बात भारी हो सकती है? इसलिए, विनय-ग्रन्थ में कहा है—जो भिक्षु दूसरों को उपसम्पदा देकर बिना पढ़ाये छोड़ देता है उसकी अपेक्षा तो बूचड़ होना अच्छा है।

भारत में शिष्य-द्वारा गुरु की सेवा की जाने की एक दूसरी रीति आगे दी जाती है। वह अपने उपाध्याय के पास रात को पहले प्रहर में और अन्तिम प्रहर में जाता है। पहले उपाध्याय उसे आराम से बैठ जाने को कहता है। त्रिपिटकों में से (कुछ वचन चुनकर) वह अवस्थाओं के योग्य रीति से उसे पाठ पढ़ाता है, और किसी भी बात या सिद्धान्त को बिना व्याख्या किये नहीं जाने देता। वह अपने शिष्य के नैतिक आचरण

की देख-भाल करता, और उसके दोषों और अतिक्रमों की चेतावनी उसे देता रहता है। जब कभी वह अपने शिष्य को अपराधी देखता है, उसे उसके उपाय ढूँढ़ने और पश्चात्ताप करने पर विवश करता है। शिष्य उपाध्याय के शरीर को मलता, उसके वस्त्रों की तह करता है और कभी-कभी कोठरी और आँगन में झाड़ू देता है। तब जल की परीक्षा करके कि उसमें कहीं कीड़े तो नहीं हैं, वह उपाध्याय को देता है। इस प्रकार, यदि कोई काम करने को हो तो वह अपने उपाध्याय के लिए सब करता है। अपने से बड़े की पूजा की ऐसी ही विधि है। इसके विपरीत, शिष्य के रुग्ण होने की अवस्था में, उपाध्याय स्वयं उसकी सेवा-शुश्रूषा करता है, सभी आवश्यकीय ओषधियाँ लाकर उसे देता है और उसका ध्यान रखता है, मानों वह उसका अपना बच्चा है।

बुद्ध के धर्म्म के सारभूत सिद्धान्तों में, शिक्षा और उपदेश सबसे आगे और पहले समझे जाते हैं। ठीक जिस प्रकार चक्रवर्ती राजा अपने सबसे बड़े पुत्र का रक्षण और शिक्षण बड़ी सावधानी से करता है, उसी सावधानी से शिष्य को धर्म्म की शिक्षा दी जाती है। विनय में बुद्ध की स्पष्ट आज्ञा है; क्या हमें इस बात को तुच्छ समझना चाहिए?

अब रही उपर्युक्त चैत्यवन्दन की बात। जब गुरुदेव, जगत्पूज्य, निर्वाण को प्राप्त हुए, और मनुष्य और देवता उनके शव को अग्नि में भस्म करने के लिए एकत्र हुए, तब लोग वहाँ सब प्रकार की सुगन्धियाँ लाये—यहाँ तक कि उन्होंने वहाँ एक बड़ा ढेर लगा दिया, जो कि चिति, अर्थात् ढेर कहलाता था। पीछे से इसी से निकला हुआ चैत्य का नाम है। परन्तु इस शब्द के और भी समाधान हैं—एक तो यह कि जगत्पूज्य के सभी सद्गुण यहाँ इकट्ठे रक्खे हुए (संचित या चित्) समझे जाते हैं; दूसरे, यह मिट्टी या ईंटों का ढेर लगाने से बनता है। इस प्रकार इस शब्द के अर्थ स्पष्ट चले आ रहे हैं। इसका दूसरा नाम स्तूप है, जिसके अर्थ वही हैं जो कि चैत्य के।

ऐसे नाम जैसा कि शङ्कु (अर्थात् महायान में 'भली भाँति प्रविष्ट')

आरम्भ में अर्थ रखते थे, और सात्त्विक कर्म के कारण किये जाते थे। जब हम चैत्यवन्दन के लिए बाहर जाने को होते हैं, और लोग हमसे पूछते हैं कि कहाँ जा रहे हो, तब हम उत्तर देते हैं—'हम अमुक-अमुक स्थान को चैत्य-वन्दन के लिए जा रहे हैं।' प्रणाम या वन्दन का अर्थ अपने ज्येष्ठों का सम्मान करना और नम्र रहना है। जब भिक्षु वन्दन अथवा किसी बात की घोषणा करने लगे तब पहले उसे अपने चोले को ठीक कर लेना, और इसे (दायें हाथ से) बायें पार्श्व की ओर दबाकर, बायें कन्धे पर इकट्ठा कर लेना चाहिए, जिससे यह शरीर के साथ ख़ूब कसकर लगा रहे। अब बायाँ हाथ नीचे की ओर फैलाकर भिक्षु अन्तरीय के बायें भाग को पकड़ ले, और उसका दायाँ हाथ साये के पकड़े हुए भाग के पीछे जाय और साये के नीचतम भाग के साथ चीवर को इस प्रकार तह (या दुहरा) करे कि इससे घुटने भली भाँति ढँक जायँ; इस क्रिया में भिक्षु अपने शरीर का कोई भी भाग दिखने न दे। साये का पिछला भाग चटपट शरीर से लग जाय। उत्तरीय और अन्तरीय को इस प्रकार ऊपर को उठाये कि वे भूमि से स्पर्श न करें। दोनों एड़ियाँ इकट्ठी रक्खी जायँ, ग्रीवा और पीठ एकसम हों; भूमि पर दसों उँगलियों को एक सम रखकर अब उसे सिर नवाना चाहिए। घुटनों के नीचे ढाँकने के लिए कोई भी वस्तु न होनी चाहिए। तब भिक्षु को अपने जोड़े हुए हाथ आगे बढ़ाने चाहिए और पृथिवी पर फिर सिर टेकना चाहिए। इस प्रकार वह सावधानी से तीन बार प्रणाम करे। परन्तु साधारण वन्दन में एक ही बार पर्याप्त होगा। मध्य में खड़े हो जाने की कोई रीति नहीं है। भारतीय लोग जब किसी को खड़े होकर तीन बार वन्दन करते देखते हैं तब वे इसे बड़ा विचित्र समझते हैं। यदि किसी को डर हो कि (वन्दन के पश्चात्) माथे पर धूल लगी होगी तो वह पहले इसे मले और फिर पोंछ डाले। फिर पिंडली की हड्डी पर से धूल पोंछनी चाहिए; और कपड़ों को ठीक करके भिक्षु कमरे के एक कोने में बैठ जाय, या थोड़ी देर खड़ा रहे। शेषोक्त अवस्था में पूज्यदेव उसे आसन देगा। जिस समय

मनुष्य को किसी अपराध के लिए झिड़का जा रहा हो, वह सारा समय बराबर खड़ा रहे । जब हमारा बुद्ध भूलोक में था उस समय से ऐसी परम्परागत रीति गुरु से शिष्य को, बिना रोक-टोक के, मिलती चली आ रही है । यह सूत्रों और विनय में भी मिलती है; यह प्रायः कहा जाता है कि मनुष्य बुद्ध के पास जाकर उसके दोनों पाँवों को छूता है, और कमरे के एक कोने में बैठ जाता है। परन्तु हमने बैठने की चटाई का व्यवहार कभी नहीं सुना। तीन बार दण्डवत् करने के बाद, मनुष्य एक कोने में खड़ा हो जाता है—बुद्ध की शिक्षा ऐसी ही है। पूज्य स्थविरों की कोठरियों में अनेक आसन होते हैं, और जो लोग भीतर आयें उन्हें उचित रीति के अनुसार बैठ जाना चाहिए। बैठ जाने पर मनुष्य के पैर भूमि से छूते हैं; परन्तु सुखपूर्वक बैठने की कोई रीति नहीं। विनय में यह बार-बार कहा गया है कि मनुष्य को पहले 'उकड़ू बैठना' अर्थात् दोनों पैरों को भूमि पर और दोनों घुटनों को सीधा रखना चाहिए और कपड़ों को शरीर के गिर्द कस रखना चाहिए, जिससे वे पृथ्वी से न लगें। पवित्र विषयों (धार्मिक) के सम्बन्ध में वर्णन करते हुए, कपड़ों की रक्षा के लिए यह एक साधारण नियम है। इसी नियम का पालन वह मनुष्य करता है जो किसी व्यक्ति के सामने अपने पापों का अङ्गीकार करता है, या जो एक बड़ी सभा का पादवन्दन करता है, या जो दोषी ठहराया जाने पर क्षमा के लिए प्रार्थना करता है, या उपसम्पदा के अनन्तर सङ्घ को प्रणाम करता है।

मन्दिर (गन्धकुटी) की ओर देखते और स्तुति करते समय एक दूसरा आसन ग्रहण किया जाता है, वह है भूमि पर दोनों घुटने टेककर, हाथ जोड़े हुए प्रणाम और पूजन करना। परन्तु खाट पर बैठे-बैठे वन्दन या पूजन करने की रीति (चीन के सिवा) और किसी देश में नहीं। हम (वन्दन के समय) ऊनी चटाई के प्रयोग की रीति भी नहीं देखते हैं। क्या दूसरों को प्रणाम करते समय उपर्युक्त प्रकार की गर्वित अवस्था धारण करना युक्ति-सङ्गत है? यहाँ तक कि एक साधारण

सामाजिक सभा में भी मनुष्य पलँग अथवा चटाई पर बैठकर उचित सम्मान नहीं किया करता। फिर पूज्य उपाध्याय, अथवा महामुनि की वन्दना के समय यह रूप और भी कितना कम उचित है! भारतीय व्याख्यान-भवनों और भोजनशालाओं में कभी बड़े-बड़े पलँग नहीं रहते, किन्तु केवल लकड़ी की पटरियाँ और छोटी कुरसियाँ होती हैं, जिन पर व्याख्यान सुनते अथवा भोजन करते समय लोग बैठते हैं। यही उचित रीति है।

[२४]

अपरिचितों अथवा मित्रों के प्रति व्यवहार

जिन दिनों गुरुदेव (बुद्ध) जीते थे, धर्म के अधिपति होते हुए वे स्वयं किसी अपरिचित भिक्षु के आगमन पर उससे 'स्वागत' कहा करते थे। यद्यपि भारतीय भिक्षुओं ने (अपने मित्रों के स्वागत के लिए) अनेक विधियाँ बना रक्खी हैं, पर व्यापक नियम यह है कि जब कोई किसी को (विहार की ओर) आते देखता है,—चाहे वह अपरिचित हो, मित्र हो, चेला हो, शिष्य हो या परिचित—तब उससे 'स्वागत', जिसका अनुवाद 'स्वस्ति'* किया गया है, कहने के लिए आगे जाता है। परन्तु यदि वह आगन्तुक को अपरिचित पाता है तो 'सुस्वागत', जिसका अनुवाद 'बहुत बहुत स्वस्ति* है, कहता है। यदि मनुष्य यह नहीं कहता तो एक ओर तो वह विहार की रीति को छोड़ता है, और दूसरी ओर विनय के अनुसार दोषी होता है। नवागत (आश्रमपति से) बड़ा है या छोटा, इस बात की पूछ-ताछ किये बिना सदा ऐसा ही किया जाता है और सदा यही अवस्था होती है कि, जब कोई मनुष्य आता है, आश्रमपति आगन्तुक से उसकी पानी की ठिलिया और भिक्षापात्र लेकर

* इसका अर्थ यह भी हो सकता है; "तब ज्यों ही स्वागत बोला जाता है, अतिथि (उत्तर में) 'सुस्वागत' कहता है।"

दीवार पर कील से लटका देता है, और नवागत को, यदि वह नवशिष्य हो तो एक एकान्त स्थान में, और यदि वह पूजनीय अतिथि हो तो सामने की कोठरी में, सुख-पूर्वक बैठाकर विश्राम करने को कहता है। यदि आश्रमपति अभ्यागत से छोटा हो तो वह, अपने बड़े के सम्मान में, अभ्यागत की पिंडलियों को पकड़ लेता और उसके शरीर के सारे अङ्गों को सहराता है; और यदि आश्रमपति बड़ा हो तो वह, उसे ठण्डा करने के लिए, उसकी पीठ को सहराता है, परन्तु इतना नीचे तक नहीं कि उसकी कमर और उसके पैरों तक पहुँच जाय। और यदि दोनों आयु में समान हों तो कोई भेद नहीं रक्खा जाता।

जब (नवागत की) थकावट उतर जाती है तब वह हाथ-पैर धोकर उस स्थान पर जाता है जहाँ कि उसका ज्येष्ठ होता है, और भूमि-गत होकर एक बार उसे दण्डवत् करता; और, घुटनों के बल बैठे हुए, वह अपने से श्रेष्ठ के पैरों को पकड़ता है। वह श्रेष्ठ, अपने बायें हाथ को बढ़ाकर अपने से छोटे भिक्षु के कंधे और पीठ को सहराता है—परन्तु यदि उन्हें बिछुड़े बहुत देर नहीं हुई तो वह उसे अपने हाथ से नहीं सहराता। अब उपाध्याय उसका कुशल-समाचार पूछता है, और शिष्य बताता है कि मैं कैसा हूँ। तब शिष्य एक ओर हट जाता, और उचित सम्मान के साथ बैठ जाता है। भारत में साधारण नियम लकड़ी के एक छोटे से पटरे पर बैठने का है, और सब लोग पैर नंगे रखते हैं।

सूत्रों में बार बार कहा गया है कि मनुष्य और देवता बुद्ध के पास आते थे, अपने सिर झुकाकर उसके दोनों पैरों पर रख देते थे, तब हटकर एक ओर बैठ जाते थे। यह ऐसी रीति है जैसी कि मैं अब वर्णन कर रहा हूँ। तब आश्रमपति, वर्ष की ऋतु का विचार करके, गरम पानी अथवा कोई दूसरा पेय आगे रक्खे।

घृत, मधु, चीनी, अथवा कोई और खाद्य और पेय पदार्थ, मनुष्य के इच्छानुसार दिये जा सकते हैं। जिन आठ प्रकार के शर्बतों (पानों) की बुद्ध ने आज्ञा दी है यदि यह उनमें से एक हो

तो देने से पूर्व इसे छानना और साफ़ कर लेना आवश्यक है। यदि यह तलछट से गाढ़ा हो रहा है तो बुद्ध ने इसकी कभी आज्ञा नहीं दी।

धीरे-धीरे राँधी हुई खुबानी का रस, स्वभावतः ही, गाढ़ा होता है, और हम इसे शास्त्रविहित पानों से युक्तिपूर्वक बाहर समझ सकते हैं। विनय में यह कहा है—'आसव को स्वच्छ रीति से छानना चाहिए, यहाँ तक कि इसका रंग नरकट के पीले पत्ते क सदृश हो जाय।'

अभ्यागतों के स्वागत की प्रक्रियायें ऐसी ही हैं, चाहे वे उपाध्याय हों चाहे शिष्य हों, चेले हों, अपरिचित हों या मित्र हों। दूसरे के द्वार पर पहुँचते ही, अपने कपड़ों और टोपी का ध्यान रक्खे बिना, शीत का सामना करते हुए या गरमी सहते हुए,—जिससे या तो हाथ और पैर सुन्न हो रहे होंगे या सारा शरीर पसीने से लथपथ हो रहा होगा—जल्दी में होनन (नीचे देखिए) कहना ठीक नहीं। जल्दी की ऐसी पद्धति नियम के बहुत विरुद्ध है।

जिस समय शिष्य धर्म्म के सिवा किसी और विषय पर व्यर्थ बातें कर रहा हो उस समय उसे एक ओर न बैठाकर खड़े रहने देना उपाध्याय की भूल है। वास्तव में, क्या ऐसा मनुष्य धर्म्म की उन्नति की भारी आवश्यकता समझता है?

सड़क पर या जमघट में उपर्युक्त वन्दन उचित नहीं। परन्तु मनुष्य को चाहिए कि हाथों को जोड़कर आगे बढ़ा दे, और सिर को झुकाकर मुंह से वन्ति (वन्दे) कहे। इसलिए एक सूत्र में कहा है—'या मनुष्य केवल हाथ जोड़कर आगे कर देता है,....और सिर को थोड़ा-सा नीचे झुका देता है।' यह भी वन्दन करने की रीति है।

[२५]

शारीरिक रोग के लक्षणों पर

जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ, मनुष्य को अपनी क्षुधा के अनुसार थोड़ा भोजन करना चाहिए। यदि मनुष्य की भूख अच्छी हो तो साधारण

भोजन करना चाहिए। यदि मनुष्य अस्वस्थ हो, तो कारण ढूंढ़ना चाहिए; जब रोग का कारण मालूम हो जाय तब विश्राम करना चाहिए। नीरोग होने पर मनुष्य को भूख लगेगी, उस समय उसे हलका भोजन करना चाहिए। उषा-काल प्रायः 'कफ़ का समय' कहलाता है, जब कि रात के भोजन का रस, अभी बिखरा न होने के कारण, छाती के गिर्द लटक रहा होता है। इस समय खाया हुआ कोई भी भोजन अनुकूल नहीं बैठता।

उदाहरणार्थ, यदि मनुष्य उस समय ईंधन डालता है जब कि आग पहले से भड़क रही है, तो यह डाला हुआ ईंधन जल जायगा, परन्तु यदि मनुष्य उस आग पर घास डाल देता है जो अभी भभक नहीं रही है, तब घास वैसी की वैसी पड़ी रहेगी, और आग जलेगी तक नहीं।

साधारण भोजन के अतिरिक्त हल्के भोजनों की आज्ञा बुद्ध ने दी है; चाहे चावलों का पानी हो या चावल हो, भोजन अपनी भूख के अनुसार करना चाहिए।

धर्म्म का पालन करते हुए यदि कोई केवल चावलों के पानी पर निर्वाह कर सके, तो और कोई वस्तु नहीं खानी चाहिए; परन्तु यदि मनुष्य को शरीर के पोषण के लिए चावल की रोटियों की आवश्यकता हो तो उनके खाने में उसे कोई दोष नहीं। जब मनुष्य के शिर में पीड़ा होती है और वह शय्या पर लेट जाता है तब वह न केवल रोग ही कहलाता है, वरन् जब खाने से मनुष्य को दुःख होता है तब रोग का कारण भी उत्पन्न हो जाता है। जब औषधि से रोग की शान्ति न हुई हो तब वैद्य की आज्ञा से किसी भी अनिर्दिष्ट समय में भोजन किया जा सकता है। बुद्ध कहता था कि 'ऐसी दशा में भोजन किसी एकान्त स्थान में देना चाहिए।' अन्यथा अनुचित समय में भोजन का निषेध है। आयुर्वेद, जो कि भारत की पाँच विद्याओं में एक है, बतलाता है कि वैद्य, रोगी के कण्ठस्वर और मुखमण्डल को देखने के अनन्तर चिकित्सा-शास्त्र के आठ प्रकरणों के अनुसार उसके लिए उपचार करता है।

यदि वह इस विद्या के मर्म को नहीं समझता तो, उचित रीति से करने की इच्छा रखते हुए भी, भूलें कर बैठेगा। चिकित्साशास्त्र के आठ प्रकरण* ये हैं,—पहले में, सब प्रकार के व्रणों का वर्णन है; दूसरे में, गले से ऊपर प्रत्येक रोग के लिए शस्त्रक्रिया से इलाज करने का; तीसरे में, शरीर के रोगों का; चौथे में, भूतावेश का; पाँचवें में, अगद औषधि (अर्थात्, प्रतिविष) का; छठे में, बालकों के रोगों का; सातवें में, आयु को बढ़ाने के उपायों का; आठवें में, शरीर और टाँगों को पुष्ट करने की रीतियों का वर्णन है। (१) व्रण दो प्रकार के हैं, भीतरी और बाहरी। (२) गले के ऊपर का रोग सारा वही है जो सिर और मुख पर होता है; (३) कंठ से नीचे का प्रत्येक रोग 'शारीरिक' रोग कहलाता है (४) 'भूतावेश' आसुरी आत्माओं का आक्रमण है, और (५) 'अगद' विषों के प्रतीकार के लिए औषधि है। (६) 'बालकों परन्तु आयुर्वेद के ५ से तात्पर्य भ्रूणावस्था से लेकर लड़के के सोलहवें वर्ष के बाद तक है, (७) 'आयु को बढ़ाना' शरीर को बचाना है जिससे वह चिरकाल तक जीवित रहे, और (८) 'शरीर और टाँगों को पुष्ट करने' का अर्थ शरीर और अवयवों को दृढ़ और नीरोग रखना है। ये आठ कला में पूर्व काल में आठ पुस्तकों में थीं; परन्तु पीछे से एक मनुष्य ने उन्हें संक्षिप्त करके एक गट्ठा बना दिया। भारत के पाँच खण्डों के सभी वैद्य इस पुस्तक के अनुसार उपचार करते हैं, और इसमें भली भाँति निपुण प्रत्येक वैद्य को अवश्य ही सरकारी वेतन मिलने लगता है। इसलिए भारतीय जनता वैद्यों का बड़ा सम्मान और व्यापारियों का बहुत आदर करती है, क्योंकि वे जीव-हिंसा नहीं करते, और वे दूसरों का उद्धार और साथ ही अपना उपकार करते हैं। मैंने भैषज विद्या का भली भाँति अध्ययन किया था, परन्तु मेरा यह उचित व्यवसाय न होने के कारण मैंने अन्त को इसे छोड़ दिया है।

---

* ये आयुर्वेद के आठ विभागों से पूर्णतः मिलते हैं।

साधारणतः जो रोग शरीर में होता है वह बहुत अधिक खाने से होता है, परन्तु कभी-कभी यह अति परिश्रम, या पहला भोजन पचने के पूर्व ही दुबारा खा* लेने से उत्पन्न हो जाता है; जब रोग इस प्रकार उत्पन्न होता है तब इसका परिणाम विषूचिका होता है, जिसके कारण मनुष्य को कई रातों तक लगातार पीड़ा-वृद्धि से दुःख उठाना पड़ता है।

वास्तव में ऐसे परिणाम स्वरूप होनेवाले रोग के कारण को न जानने और औषध करने (मूलार्थतः, शान्त करने और रक्षा करने) की विधि को न समझने से पैदा होते हैं। कहा जा सकता है कि लोग बिना हेतु के जाने रोगमुक्त होने की आशा करते हैं, ठीक उन लोगों के सदृश जो, जलधारा को बन्द करने की इच्छा रखते हुए, इसके सोते पर बाँध नहीं बाँधते; या उन लोगों के सदृश जो वन को काट डालने की कामना करते हुए, वृक्षों को उनकी जड़ों से नहीं गिराते, किन्तु धारा या कोंपलों को अधिक से अधिक बढ़ने देते हैं।

क्या यह खेद की बात नहीं है कि रोग मनुष्य को उसका कर्तव्य और व्यवसाय करने से रोक देता है? मनुष्य के लिए अपने गौरव तथा प्रसाद को खो बैठना वास्तव में कोई छोटी बात नहीं, इसलिए मैं उपर्युक्त बातों का वर्णन कर रहा हूँ जिन्हें मुझे आशा है कि पाठक एक सुदीर्घ पुनरावृत्ति बताकर आपत्ति नहीं करेंगे। मैं चाहता हूँ कि एक पुराना रोग बहुत सी औषधियाँ खर्च किये बिना ही शान्त हो जाय और नया रोग रुक जाय, और इस प्रकार वैद्य की आवश्यकता न हो;—तब शरीर (अर्थात् चार भूतों) की स्वस्थ अवस्था और रोग के अभाव की आशा की जा सकती है। यदि लोग, चिकित्सा-शास्त्र के अध्ययन से दूसरों का तथा अपना हित कर सकें तो क्या यह उपकार की बात नहीं है?

---

* मूलार्थतः—'रात का भोजन पचने के पहले सबेरे का भोजन, और सबेरे का भोजन पच जाने के पहले दोपहर का भोजन खाने से।'

परन्तु विष खाना, या मृत्यु और जन्म, प्रायः मनुष्य के पूर्व कर्म का फल होता है; फिर भी इसका यह तात्पर्य नहीं कि मनुष्य उस दशा को दूर करने या बढ़ाने से संकोच करे जो वर्त्तमान जीवन में रोग को उत्पन्न करती या उसे हटाती है।

[२६]

औषधि देने के नियम

प्रत्येक प्राणी चार महाभूतों के शान्त कार्य अथवा दोष के अधीन है। आठ ऋतुओं के एक दूसरे के बाद आने से, शारीरिक दशा में विकास और परिवर्तन कभी बन्द नहीं होता। जब किसी को कोई रोग हो जाय, तत्काल विश्राम और रक्षा करनी चाहिए।

इसलिए लोकज्येष्ठ (बुद्ध) ने स्वयं चिकित्सा-शास्त्र पर एक सूत्र का उपदेश दिया था, जिसमें उन्होंने कहा था—"चार महाभूतों के स्वास्थ्य (शब्दार्थ, परिमितता) का दोष इस प्रकार है—

१. पृथ्वी-तत्त्व के बढ़ने से, शरीर को आलसी और भारी बनाना।

२. जल-तत्त्व के इकट्ठा हो जाने से, आँख में मैल या मुँह में राल का बहुत अधिक होना।

३. अग्नि-तत्त्व से उत्पन्न हुए अतिप्रबल ताप के कारण सिर और छाती का ज्वरग्रस्त होना।

४. वायु-तत्त्व के जंगम प्रभाव के कारण श्वास का प्रचण्ड वेग।"

रोग का कारण मालूम करने के लिए प्रातःकाल अपनी जाँच करनी चाहिए। यदि जाँच करने पर चार महाभूतों में कोई दोष जान पड़े, तब सबसे पहले उपवास करना चाहिए। भारी प्यास लगने पर भी शर्बत या जल न पीना चाहिए, क्योंकि इस विद्या में इसका सबसे कड़ा निषेध है। इस उपवास को, कभी-कभी एक दो दिन तक, कभी-कभी चार-पाँच दिन

तक जारी रखना होता है, जब तक कि रोग बिलकुल शान्त न हो जाय। रोग की निवृत्ति अवश्य ही हो जायगी। यदि मनुष्य यह अनुभव करे कि आमाशय में कुछ भोजन रह गया है, तो उसे पेट को नाभि पर से दबाना या सहराना, जितना अधिक हो सके गरम जल पीना, और वमन लाने के लिए कण्ठ में उँगली डालना चाहिए; जब तक भोजन का अव-शिष्टांश बिलकुल न निकल जाय पानी का पीना और फिर वमन-द्वारा निकालना जारी रखना चाहिए।

यदि मनुष्य ठण्डा जल पीवे तो भी कोई हानि नहीं, और गरम जल में सोंठ मिलाकर पीना भी बहुत अच्छा है। कम से कम, उपचार आरम्भ करने के दिन रोगी को अवश्य उपवास करना चाहिए, और पहली बार भोजन दूसरे दिन सबेरे खाना चाहिए। यदि यह कठिन हो तो अवस्था के अनुसार कोई और उपाय करना चाहिए। प्रचण्ड ज्वर की दशा में, जल द्वारा ठण्डक पहुँचाने का निषेध है; 'डूबते हुए भारीपन' (१) और 'काँपनेवाली सरदी' की अवस्था में सबसे उत्तम इलाज आग के निकट रहना है, परन्तु (यङ-त्सजे) नदी और (बेर) गिरिमाला के दक्षिण में अवस्थित गरम और गीले स्थानों में इस नियम का प्रयोग नहीं होना चाहिए। इन प्रान्तों में जब ज्वर होता है तब जल से ठंडा करना गुणकारी होता है। जब वायु का दबाव हो रहा हो तब सबसे उत्तम उपाय घायल और पीड़ायुक्त स्थान पर तेल मलना, और उसे गरम किये हुए बिछौने से गरम करना है। यदि मनुष्य उस पर गरम तेल मले तो भी अच्छा परिणाम होता है। कभी-कभी हम देखते हैं कि लगभग दस दिन तक कफ़ कंठ में भरा रहता है, मुँह और नाक से लगातार पानी बहता है, और इकट्ठा हुआ श्वास, वायु की नली में बन्द होने के कारण कंठ में तीव्र पीड़ा उत्पन्न करता है। ऐसी अवस्था में, वाणी के अभाव से, बोलना कठिन होता है, और सब भोजन स्वादहीन हो जाते हैं।

उपवास एक बड़ी गुणकारी चिकित्सा है। यह भेषज-विद्या के साधा-रण नियम, अर्थात् बिना किसी क्वाथ या अन्य ओषधि के प्रयोग के चंगा

करने के अनुसार है। कारण यह है कि जब आमाशय खाली होता है तब प्रचण्ड ज्वर कम हो जाता है, जब भोजन का रस सोख जाता है तब श्लेष्मल रोग निवृत्त हो जाता है, और जब भीतरी इन्द्रियाँ विश्राम में होती हैं और बुरा साँस बिखर जाता है तब कड़ी ठंढ स्वभावतः ही दूर हो जाती है। यदि इस रीति का अवलम्ब किया जाय तो अवश्य ही रोग-शान्ति हो जाती है।

उपवास सरल और अद्भुत औषधि है, क्योंकि निर्धन और धनवान् दोनों समान रूप से इसका अनुष्ठान कर सकते हैं। क्या यह महत्त्व की बात नहीं है?

शेष सब रोगों में—जैसा कि मुहासा या किसी छोटे फोड़े का सहसा निकल आना; रक्त के अकस्मात् वेग से ज्वर का होना; हाथों और पैरों में प्रचण्ड पीड़ा; आकाश के विकारों (जैसा कि बिजली), वायु-गुण, या खड्ग तथा बाण से शरीर की हानि; गिर पड़ने से घाव हो जाना; तीव्र ज्वर या विषूचिका, आधे दिन की संग्रहणी, शिर-पीड़ा, हृदयव्याधि, नेत्र-रोग या दन्त-पीड़ा—भोजन से बचना चाहिए। हरीतक (या, की) की छाल, सोंठ और चीनी लो, और तीनों को समान मात्रा में तैयार करो; पहली दो को पीसकर जल की कुछ बूँदों से चीनी के साथ मिलाओ, और फिर गोलियाँ बना लो। प्रतिदिन सबेरे अधिक से अधिक कोई दस गोलियाँ एक मात्रा में खाई जा सकती हैं, और भोजन का प्रयोजन बिलकुल नहीं रहता। अतिसार की दशा में, नीरोग होने के लिए कोई दो तीन मात्रायें पर्याप्त हैं। इस गोली से बहुत बड़ा लाभ होता है, क्योंकि यह रोगी को सिर के घूमने, ठण्ढ और अजीर्ण से मुक्त कर देती है; इसी लिए मैं यहाँ इसका उल्लेख कर रहा हूँ। यदि चीनी न हो तो उस-जैसी मिठाई या मधु से काम चल जाता है। यदि कोई मनुष्य प्रतिदिन हरीतक का टुकड़ा दाँतों से काटे और उसका रस निगले तो जीवन-पर्यन्त उसे कोई रोग न होगा। ये बातें, जिनमें भेषज-विद्या बनी है, शक्र देवेन्द्र से, भारत की पाँच विद्याओं में से एक के रूप में चली आ रही हैं और

उस देश के पाँचों भागों के लोग इसी पर चलते हैं। इसमें सबसे महत्व का नियम उपवास है।

विषों, जैसे कि साँप के काटे की चिकित्सा उपर्युक्त रीति से नहीं करनी चाहिए। उपवास की अवस्था में, घूमना और काम करना बिल-कुल छोड़ देना चाहिए।

जो मनुष्य लम्बी यात्रा कर रहा है, उसे उपवास में चलने से कोई हानि नहीं; परन्तु जिस रोग के लिए वह उपवास कर रहा हो, वह जब निवृत्त हो जाय, तब उसे अवश्य विश्राम करना चाहिए, और ताजा उबला हुआ भात खाना और भली भाँति उबला हुआ कुछ मसूर का जल किसी मसाले के साथ मिलाकर पीना चाहिए। यदि कुछ ठण्ड मालूम हो तो शेषोक्त जल को कुछ काली मिर्च, अदरक या पिप्पली के साथ पीना चाहिए। यदि जुक़ाम मालूम हो तो काशगरी प्याज (पलाण्डु) या जंगली राई लगानी चाहिए।

चिकित्सा-शास्त्र में कहा है—'सोंठ के सिवा चरपरे या गरम स्वाद की कोई भी चीज सरदी को दूर कर देती है।' परन्तु यदि दूसरी चीजों को में साथ मिला लिया जाय तो भी अच्छा है। जितने दिन उपवास किया हो उतने दिन शरीर को शान्त रखना और विश्राम देना चाहिए। ठण्ढा जल न पीना चाहिए; दूसरे भोजन वैद्य के परामर्शानुसार करने चाहिए। यदि चावलों का पानी पिया जायगा तो कफ के बढ़ने का डर रहेगा। ठण्ढ के रोग में खाने से कुछ हानि न होगी; ज्वर के लिए वैद्यक का क्वाथ वह है जो कड़वे गिंसङ्ग (Aralia quinquefolia की जड़) को भली भाँति उबालने से तैयार होता है।

चाय भी अच्छी है। मुझे अपनी जन्म-भूमि को छोड़े बीस से अधिक वर्ष बीत चुके हैं, और केवल यह और गिंसेङ्ग का क्वाथ ही मेरे शरीर की औषध रही है और मुझे कदाचित् ही कभी कोई घोर रोग हुआ है।

पश्चिमी भारत के लाट* देश में, जो लोग रोग-ग्रस्त होते हैं, वे कभी-कभी आधा मास और कभी-कभी पूरा मास उपवास करते हैं। जब तक वह रोग, जिससे वे कष्ट पा रहे हैं, पूर्णरूप से शान्त नहीं हो जाता तब तक वे कभी भोजन नहीं करते। मध्य भारत में उपवास की दीर्घतम अवधि एक सप्ताह है, जब कि दक्षिणी सागर के द्वीपों में दो अथवा तीन दिन है। इसका कारण प्रदेश, रीति और शरीर की रचना के भेद हैं।

(भारत में) लोग किसी प्रकार का प्याज नहीं खाते। मेरा मन ललचा जाता था और मैं उसे कभी-कभी खा लेता था, परन्तु धार्मिक उपवास करते समय वह दुःख देता और पेट को हानि पहुँचाता है। इसके अतिरिक्त यह नेत्र-दृष्टि को खराब करता, रोग को बढ़ाता और शरीर को दुर्बल करता जाता है। इसी कारण भारतीय जनता उसे नहीं खाती। बुद्धिमान् मेरी बात पर ध्यान दें और जो बात सदोष है उसे छोड़कर जो उपयोगी है उसका अनुष्ठान करें, क्योंकि यदि कोई व्यक्ति वैद्य के उपदेशानुसार आचरण नहीं करता तो इसमें वैद्य का कोई दोष नहीं।

यदि उपर्युक्त पद्धति के अनुसार अनुष्ठान किया जाय तो इससे शरीर को सुख और धर्म-कार्य को पूर्णता प्राप्त होगी, और इस प्रकार अपना और दूसरों का उपकार होगा। यदि इस रीति को अस्वीकृत किया जायगा तो इसका परिणाम दुर्बल शरीर और संकुचित ज्ञान होगा, और दूसरों की तथा अपनी सफलता सर्वथा नष्ट हो जायगी।

[२७]
पूजा में दाईं ओर को फिरना

'दाईं ओर को घूमना' संस्कृत में प्रदक्षिणा कहलाता है। उपसर्ग 'प्र' के अनेक अर्थ हैं; और अब, इस शब्द के अंश के रूप में, यह 'गिर्द

* बृहत्संहिता ६९, ११ में मालव, भरोएच, सूरत (सुराष्ट्र), लाट और सिन्धु का उल्लेख एक ही समूह में है।

घूमना' प्रकट करता है। दक्षिण का अर्थ है। 'दायाँ', और यह प्रायः प्रत्येक पूज्य और उचित बात को बतलाता है। इसलिए वे (भारतीय लोग) दायें हाथ को दक्षिण कहते हैं, जिससे सूचित यह होता है कि दायें के पीछे चलना उचित और सम्मानयुक्त है। इसलिए यह प्रदक्षिण की प्रक्रिया के योग्य है। दक्षिणा का (स्त्रीलिंग संज्ञा के रूप में) अर्थ 'दान' भी है। भारत के पाँचों खण्डों में सर्वत्र सब लोग पूर्व को 'सामने' और दक्षिण को 'दायाँ' कहते हैं, यद्यपि मनुष्य इसी रीति से बायाँ और बायाँ नहीं कह सकता (अर्थात्, उत्तर के लिए बायाँ नहीं कहा जा सकता)। हम सूत्रों में यह पद पढ़ते हैं—'तीन बार प्रदक्षिणा करना*', परन्तु इसका अनुवाद केवल 'बुद्ध के पार्श्व के गिर्द घूमना' करना अशुद्ध है। सूत्रों में यह पद—'दाईं ओर को तीन बार गिर्दगिर्द घूमना', प्रदक्षिणा की पूरी व्याख्या है; और एक दूसरा संक्षिप्त वर्णन भी है—'दाईं ओर' को न कहकर, 'लाख बार गिर्द घूमना'।

परन्तु, दाईं ओर को या बाईं ओर को चलना क्या है, इसका निश्चय करना कुछ कठिन होगा। यदि मनुष्य अपने दायें हाथ की ओर चलता है, तो क्या यह दाईं ओर को चलना है? अथवा क्या यह अपने बायें हाथ की ओर को चलना है? एक बार मैंने चीन में एक विद्वान् का समाधान सुना था, कि 'दाईं ओर को इर्द-गिर्द घूमने' का अर्थ यह है कि मनुष्य अपना दायाँ हाथ (उस) चक्र के भीतर रक्खे (जो कि वह बनाता है†), और 'बाईं ओर को इर्द-गिर्द घूमने' का अर्थ है अपना बायाँ हाथ उस चक्र के भीतर रखना, और इसलिए, वास्तव में, जब मनुष्य अपने बायें हाथ की ओर इर्द-गिर्द घूमता है, तब 'प्रदक्षिणा' हो जाती है। यह केवल उस विद्वान् की सम्मति है,

---

* अर्थात् महापरिनिब्बान, अ० ६,४६: पदक्खिणम् कत्वा।

† निस्सन्देह भारतीय रीति के अनुसार यह ठीक समाधान है, परन्तु इ-त्सिङ्ग इसके विरुद्ध कहता है।

और बिलकुल ठीक नहीं है। इसने अनजानों को उचित विधि के विषय में हैरान कर दिया है, और कुछ प्रसिद्ध लोगों को भी, जो अत्यनुरोध से इससे सहमत हो गये हैं, भटका दिया है। अब केवल सिद्धान्तों से अनुमान करके, हम इस विषय का निर्णय कैसे करें? यह बात तभी हो सकती है जब, व्यक्तिगत प्रवृत्तियों को छोड़कर, केवल संस्कृत-पुस्तकों पर ही विश्वास किया जाय। दायें हाथ की ओर चलना (अर्थात् बाईं ओर को न फिरना) प्रदक्षिणा है, और बायें हाथ की ओर चलना बाईं ओर को इर्द-गिर्द घूमना है। यह नियम बुद्ध का नियत किया हुआ है, और हमारे विवाद से परे है।

इसके आगे (हम) 'उचित समय' और 'अनुचित समय' का वर्णन करेंगे। जिस सूत्र में 'उचित समय' का वर्णन है उसमें विविध अवस्थाओं के अनुरूप समयों के विषय में भिन्न-भिन्न ढंग हैं। परन्तु, चार निकायों के विनय-ग्रन्थों में यह एकमत से कहा गया है कि दुपहर (मूलार्थतः अर्ध-समय, अर्थात् बारह बजे) भोजन के लिए उचित समय है। यह (सूर्य की घड़ी की) छाया एक धागे जितनी थोड़ी भी गुजर जाय, तो (भोजन के लिए) यह समय अनुचित कहलाता है। जो मनुष्य (समय के व्यतिक्रम के) दोष से अपने आपको बचाता है, वह यदि ठीक विभाग लेना चाहता है तो उसे रात को ध्रुव नक्षत्र को जाँचना, और तत्काल दक्षिण ध्रुव (अर्थात् 'दक्षिणी नक्षत्र' की दिशा)* को ध्यान-पूर्वक देखना होगा; और, (ऐसा करने के पश्चात्), वह (दक्षिण और उत्तर की) ठीक रेखा का निश्चय करने में समर्थ हो जाता है।

---

* समय को हर बार देखने के लिए इन बातों को देखने की आवश्यकता है—(१) मध्याह्न की दिशा (जो ध्रुव नक्षत्र को देखकर मालूम होती है); (२) वह समय जब एक अधिक दक्षिणी (और अतः अधिक शीघ्रता से चलनेवाला) नक्षत्र ऊर्ध्वसीमा (meridian) में से गुजरता है।

फिर उसे एक उचित स्थान पर मिट्टी का एक छोटा-सा चबूतरा बनाना होता है। यह चबूतरा गोल बनाया जाता है। इसका व्यास एक फ़ुट और ऊँचाई पाँच इंच होती है। इसके मध्यवर्ती भाग में एक पतली-सी छड़ी गाड़ी जाती है। या, भोजन करने की बाँस की छड़ी-जैसी पतली, एक कील पत्थर के मञ्च पर गाड़ी जाती है, और इसकी ऊँचाई चार अंगुल लम्बी होनी चाहिए। मध्य-समय (दोपहर) की ठीक घड़ी में (मञ्च पर पड़ी हुई छड़ी की) छाया के साथ-साथ एक निशान खींच दिया जाता है। यदि छाया उस निशान से गुज़र गई हो तो मनुष्य को खाना नहीं चाहिए। भारत में ऐसी (घड़ियाँ) प्रायः सर्वत्र बनाई जाती हैं, और ये वेला-चक्र अर्थात् समय के पहिये, कहलाती हैं। छाया को मापने की रीति यह है कि छड़ी की छाया को उस समय देखा जाय जब कि वह छोटी से छोटी हो। इस समय मध्याह्न होता है। परन्तु जम्बूद्वीप में, स्थानों की स्थिति में भिन्नता होने के कारण, छायाओं की लम्बाई भिन्न-भिन्न होती है। उदाहरणार्थ, लो* के प्रान्त में कोई छाया नहीं होती; परन्तु अन्य स्थानों की अवस्था भिन्न है। फिर उदाहरणार्थ, श्री भोज देश में, आठवें मास के मध्य में (अर्थात् जल-विषुव के लगभग), हम देखते हैं कि वेला-चक्र की छाया न लम्बी होती है न छोटी। उस दिन खड़े होनेवाले मनुष्य की कोई छाया नहीं पड़ती। वसन्त के मध्य में (अर्थात् महाविषुव के समय के लगभग) भी यही अवस्था होती है। सूर्य एक वर्ष में दो बार ठीक सिर के ऊपर से गुज़रता है। जब सूर्य दक्षिण में चलता है, तब (मनुष्य की) छाया उत्तर की ओर पड़ती है, और दो-तीन फ़ुट लम्बी हो

---

* लो-प्रान्त सम्भवतः मध्य भारत है। 'लो' चीन की राजधानी और 'जो कुछ आकाश के नीचे है उस सबका' केन्द्र था। शायद इ-त्सिङ्ग ने एक बार इसका व्यवहार मध्य भारत के लिए कर दिया हो, यद्यपि यह बात बड़ी विचित्र मालूम होती है।

जाती है, और जब सूर्य उत्तर में होता है, तब (मनुष्य के) दक्षिण पार्श्व में छाया उतनी ही होती है। चीन में उत्तर भाग में छाया की लम्बाई दक्षिण भाग से भिन्न होती है; उत्तर-देश में द्वार सदा सूर्य के सामने बनाये जाते हैं। जब चीन के पूर्वी समुद्रतट (है-तुङ्ग) पर मध्याह्न होता है तब अभी क्वन-हसी (अर्थात् चीन के अन्तर्गत शेन-सी के पश्चिम के प्रदेश) में नहीं होता। इस प्रकार नैसर्गिक भेद होने के कारण एक ही अवस्था के सार्वत्रिक होने पर हठ नहीं किया जा सकता। इसलिए विनय में कहा है:—'प्रत्येक स्थान में वहाँ के मध्याह्न के अनुसार समय का निश्चय किया जाता है।' क्योंकि प्रत्येक भिक्षु पवित्र नियमों के अनुसार आचरण करना चाहता है, और प्रतिदिन खाना आवश्यक है, इसलिए नियत समय पर खाने के लिए उसे छाया को नापने में सावधान रहना चाहिए। यदि वह इसे भी पूरा नहीं कर सकता, तो दूसरी आज्ञाओं का कैसे पालन कर सकता है? इसलिए विश्रुत मनुष्यों को, जो नियमों पर चलते और उनका प्रचार करते हैं, और जिन्हें जटिल और सूक्ष्म नियमों को देखकर आश्चर्य नहीं होता, समुद्र-यात्रा में भी अपने साथ सूर्य-घड़ी रखनी चाहिए, और स्थल पर तो इसे रखना और भी अधिक आवश्यक है। भारत में कहावत है कि 'जो कीड़ों के लिए पानी को और मध्याह्न के लिए समय को देखता है वह विनय-उपाध्याय कहलाता है।'

इसके अतिरिक्त, भारत के बड़े-बड़े विहारों में जल-घड़ियाँ बहुत बर्ती जाती हैं। ये और इन्हें देखते रहने के लिए कुछ लड़के अनेक पीढ़ियों के राजाओं के दिये दान होते हैं, ताकि भिक्षुओं को बताते रहें कि इतने बजे हैं। एक ताँबे के बासन में पानी भर दिया जाता है, और उसमें एक ताँबे का प्याला तैरता रहता है। यह प्याला पतला और कोमल होता है, और इसमें दो शाङ्ग (प्रस्थ) जल आता है। इसकी पेंदी में सुई के नाके जितना छोटा-सा एक छेद कर दिया जाता है, जिसमें से पानी ऊपर आता है; वर्ष के समय के अनुसार यह छेद

छोटा या बड़ा कर दिया जाता है। घण्टों (की लम्बाई) को माप कर इसे अच्छी तरह से बनाना चाहिए।

प्रातःकाल से आरम्भ करके, प्याले के पहली बार डूबने पर, डङ्के की एक चोट बजाई जाती है, और दूसरी डुबकी पर दो चोटें; तीसरी डुबकी पर तीन चोटें। परन्तु प्याले की चौथी डुबकी पर डङ्के की चार चोटों के अतिरिक्त, शङ्ख की दो फूँकें, और डङ्के की एक और धड़क की जाती है। यह पहला पहर कहलाता है, अर्थात् उस समय सूर्य पूर्व में (खस्वस्तिक और दिङ्मण्डल के बीच) होता है। जब प्याले की चार डुबकियाँ दूसरी बार पूरी हो चुकती हैं, तब (डङ्के की) चार चोटें पूर्ववत् लगाई जाती हैं, और शङ्ख भी बजाया जाता है, जिसके पश्चात् (डङ्के की) दो और चोटें लगाई जाती हैं। यह दूसरा पहर कहलाता है, अर्थात् ठीक अश्व-समय (अर्थात् दोपहर का आरम्भ) है। यदि पिछली दो चोटें बज चुकी हों तो भिक्षु भोजन नहीं करते, और यदि कोई खाता हुआ पकड़ा जाय तो विहार की रीति के अनुसार उसे निकाल देना होता है। अपराह्ण में भी दो पहर होते हैं, जिनकी घोषणा पूर्वाह्ण की तरह ही की जाती है। रात को चार पहर होते हैं। वे दिन के पहरों के सदृश होते हैं। इस प्रकार एक दिन और एक रात की बाँट से आठ पहर बनते हैं। जब रात का पहला पहर समाप्त होता है तब कर्मदान, विहार की एक अटारी में डंका बजाकर, सबको इसकी घोषणा करता है। यह नालन्द-विहार में जल-घड़ी का नियम है। सूर्यास्त और सूर्योदय के समय द्वार के बाहर डङ्का ('एक गजल') बजाया जाता है। ये अनावश्यक काम सेवक ('शुद्ध मनुष्य') और द्वारपाल करते हैं। सूर्यास्त से लेकर उषाकाल तक, न तो भिक्षुओं को कभी घण्टा बजाने का काम करना पड़ता है और न यह उन सेवकों ('शुद्ध मनुष्यों') का काम है। यह काम तो कर्मदान का है।

महाबोधि और कुशिनगर के विहारों में जल-घड़ियों की व्यवस्था कुछ

भिन्न है। यहाँ सवेरे और दुपहर के बीच सोलह बार प्याला डुबाया जाता है।

दक्षिण-समुद्र के पूलो कण्डोर (Pulo Condore) देश में, पानी से भरा हुआ ताँबे का एक बड़ा बासन (या घड़ा) बर्ता जाता है। इसकी पेंदी में एक छेद खोल दिया जाता है जिसमें से पानी बाहर निकलता है। हर बार जब घड़ा खाली हो जाता है तब एक बार डंका बजा दिया जाता है, और जब चार चोटें लगाई जाती हैं तब दोपहर हो जाती है। यही क्रिया सूर्यास्त होने तक की जाती है। दिन के समय के सदृश रात के भी आठ पहर होते हैं, जिससे सब मिलकर सोलह पहर बन जाते हैं। यह जल-घड़ी भी उस देश के राजा का दान है।

उन जल-घड़ियों के प्रयोग के कारण, घने बादलों और अँधेरे दिन में भी, अशन-समय (अर्थात् दोपहर) के विषय में किसी प्रकार की भूल नहीं होती, और जब कई रातों तक बराबर वर्षा जारी रहती है, पहरों को भूल जाने का कोई डर नहीं होता। (चीन के विहारों में) ऐसी घड़ियाँ लगाने की ज़रूरत है। इसके लिए राजा से सहायता माँगनी चाहिए, क्योंकि संघ के लिए यह एक बड़ी आवश्यक चीज़ है।

जल-घड़ी बनाने के लिए, पहले दिन और रात (की लम्बाइयों) को गिनना, और फिर उन्हें पहरों में बाँटना होता है। प्रातःकाल से लेकर मध्याह्न तक प्याले की आठ डुबकियाँ हों। यदि ऐसा हो जाय कि (दुपहर तक) आठ से कम डुबकियाँ हों तो प्याले के छेद को थोड़ा-सा और चौड़ा कर देना चाहिए। परन्तु इसे ठीक करने के लिए एक अच्छे कारीगर की आवश्यकता है। जब दिन या रात क्रमशः छोटी हो जाती है तब (पानी की) आधी डोई और मिला देना चाहिए, और जब दिन या रात क्रमशः लम्बी हो जाय तब आधी डोई निकाल देनी चाहिए।

परन्तु इसका उद्देश्य 'समय' की घोषणा करना है, इसलिए कर्मदान के लिए अपने कमरे में (उसी प्रयोजन के लिए) एक छोटे प्याले का व्यवहार युक्तिसंगत है और उसकी आज्ञा भी है।

यद्यपि चीन में (रात के समय) पाँच पहर, और भारत में चार पहर होते हैं, परन्तु विनेता की शिक्षा के अनुसार, केवल तीन ही पहर हैं, अर्थात् एक रात तीन भागों में विभक्त की गई है। पहले और तीसरे में स्मरण, (प्रार्थनाओं का) जाप, और ध्यान किया जाता है; और मध्य-वर्ती पहर में भिक्षुगण, अपने विचारों को बाँधकर (या, एकाग्रता के साथ) सोते हैं। रोग की अवस्था को छोड़कर, जो ऐसा नहीं करते वे नियम को भंग करने के अपराधी ठहरते हैं, और यदि वे इसे पूजा-भाव से करते हैं तो इससे उनका अपना और दूसरों का भला होता है।

[२८]

पूजा की पवित्र वस्तुओं को साफ़ करने में औचित्य के नियम

तीन पूज्यों (तीन रत्नों) की पूजा से बढ़कर और कोई पूजा विनीत और पूर्ण प्रज्ञा के लिए चार आर्य-सत्यों के ध्यान से उच्चतर और कोई सड़क (हेतु) नहीं। परन्तु इन सत्यों के अर्थ इतने गम्भीर हैं कि ये गँवार लोगों की समझ से दूर हैं, परन्तु पवित्र प्रतिमा (अर्थात् बुद्ध की मूर्ति) को सब कोई स्नान करा सकता है। यद्यपि गुरुदेव निर्वाण को प्राप्त हो चुके हैं, परन्तु उनकी प्रतिमा मौजूद है और हमें आस्था के साथ उसका पूजन करना चाहिए, जैसे कि हम उन्हीं के सामने हों। जो लोग उसे निरन्तर धूप और पुष्प चढ़ाते हैं, उनके विचार पवित्र हो जाते हैं और जो लोग उसकी मूर्ति को सदा स्नान कराते हैं, वे अन्धकार* में लपेटने-वाले अपने पापों को दबाने में समर्थ हो जाते हैं। जो लोग अपने आपको इस काम में लगाते हैं, उन्हें अदृश (अविज्ञप्त) पुरस्कार मिलेंगे, और जो लोग दूसरों को इसके करने का उपदेश देते हैं, वे दृश्य (विज्ञप्त) कर्म से अपना तथा दूसरों का भला करते हैं। इसलिए जो लोग पुण्योपार्जन

* मूलार्थतः 'आलस्य से उपजा हुआ कर्म;

की कामना रखते हैं, उन्हें अपने मन को इन कर्मों के करने में लगाना चाहिए।

भारतीय विहारों में, जब भिक्षु लोग अपराह्न में प्रतिमा को स्नान कराने जाते हैं, तब घोषणा के लिए कर्मदान घंटा बजाता है। विहार के आँगन में एक जड़ाऊ छत्र तानने, और मंदिर के पार्श्व में सुगन्धित जल के घड़े पंक्तियों में रखने के पश्चात् सोने, चाँदी, ताँबे, या पत्थर की एक मूर्ति उसी धातु के आसन में रक्खी जाती है, और लड़कियों का एक दल वहाँ बाजा बजाता है। फिर मूर्ति का सुगन्ध से अभिषेक करके उसपर सुगन्धित जल डाला जाता है।

सुगन्ध इस प्रकार तैयार की जाती है—कोई सुगन्ध का वृक्ष, जैसा कि चन्दन की लकड़ी या एलवा की लकड़ी लेकर एक चिपटे पत्थर पर पानी के साथ पीसो, यहाँ तक कि इसका कीचड़ बन जाय, तब इसे मूर्ति पर मलकर उसे पानी से धो डालो।

धो चुकने के बाद, इसे साफ़ सफ़ेद कपड़े से पोंछ दिया जाता है; फिर यह मंदिर में रख दी जाती है, जहाँ सब प्रकार के सुन्दर पुष्प जुटाये जाते हैं। यह प्रक्रिया विहार में रहनेवाले भिक्षु कर्मदान के प्रबन्ध में करते हैं।

विहार के अकेले कमरों में भी भिक्षु लोग प्रतिदिन मूर्ति को ऐसी सावधानी से स्नान कराते हैं कि कोई भी प्रक्रिया छूटने नहीं पाती। अब पुष्पों के विषय में सुनिए। किसी भी प्रकार के फूल, वृक्षों से या पौधों से लेकर चढ़ाये जा सकते हैं। सुगन्धित फूल सभी ऋतुओं में निरन्तर खिलते हैं और अनेक लोग ऐसे हैं जो बाजारों में उन्हें बेचते हैं।

ताँबे की मूर्तियों को, चाहे वे बड़ी हों या छोटी बारीक राख या ईंटों के चूर्ण के साथ रगड़कर और उनपर शुद्ध जल डालकर, चमकाना चाहिए, यहाँ तक कि वे दर्पण के सदृश पूर्ण रूप से स्वच्छ और सुन्दर हो जायँ। बड़ी मूर्ति को मास के मध्य और अन्त में सारा भिक्षु-संघ स्नान कराये और छोटी मूर्त्ति को, यदि सम्भव हो तो, प्रतिदिन प्रत्येक भिक्षु

अकेला नहलाये। ऐसा करने से, मनुष्य थोड़े व्यय से बड़ा पुण्य प्राप्त कर सकता है।

जिस जल से मूर्ति को स्नान कराया गया है, उस जल को यदि दो उँगलियों पर लेकर सिर पर डाल दिया जाय तो यह 'शुभ शकुन का जल' कहलाता है, जिससे मनुष्य सौभाग्य की कामना कर सकता है। मूर्ति पर चढ़ाये हुए फूलों को न तो सूँघना चाहिए, और न, जब वे उठा भी लिये जायँ, उन्हें न पाँव के नीचे रौंदना चाहिए; उन्हें तो एक स्वच्छ स्थान में अलग रख देना चाहिए। भिक्षु के सारे जीवन में ऐसा कभी न होना चाहिए कि वह मूर्ति को स्नान कराना भूल जाय और यदि वह उन सुन्दर पुष्पों को भी चढ़ाने की परवा नहीं करता, जो सब कहीं खेतों में पाये जाते हैं, तो दोषी है। उसे फूलों को चुनने और मूर्तियों को नहलाने के कष्ट से बचकर, केवल उद्यानों और सरोवरों को देखते तथा विश्राम करते हुए ही, आलसी और शिथिल न हो जाना चाहिए और न उसे पूजा के कमरे को केवल खोलकर और साधारण उपासना करके अपनी पूजा को आलस्यपूर्वक समाप्त कर देना चाहिए। यदि ऐसी अवस्था होगी तो गुरु और शिष्य की परम्परा टूट जायगी और पूजा की रीति आप्त-वचन के अनुसार न होगी।

भारत में भिक्षु और साधारण लोग मिट्टी के चैत्य या मूर्तियाँ बनाते हैं, अथवा रेशम या कागज पर बुद्ध की प्रतिमा छापते हैं, और जहाँ कहीं वे जाते हैं, चढ़ावा चढ़ाकर उसका पूजन करते हैं। कभी-कभी वे चिता बनाकर और उसे ईंटों के साथ घेरकर बुद्ध के स्तूप बनाते हैं। कभी-कभी वे इन स्तूपों को एकान्त मैदानों में बनाकर छोड़ आते हैं और ये गिर-पड़कर खँडहर हो जाते हैं। इस प्रकार कोई भी मनुष्य पूजा की चीजें बनाने में लग सकता है। फिर जब लोग सोने, चाँदी, ताँबे, लोहे, मिट्टी, लाख, ईंटों और पत्थर की प्रतिमायें और चैत्य बनाते हैं, अथवा जब वे हिममय बालुका (मूलार्थतः बालु-हिम) का ढेर लगाते हैं तब

प्रतिमाओं या चैत्यों में दो प्रकार के शरीर रखते हैं। (१) गुरुदेव का अवशिष्टांश। (२) कारणत्व की शृंखला की गाथा।

वह गाथा इस प्रकार है :—

*'सब बातें (धर्म्म) किसी हेतु से उत्पन्न होती हैं।
तथागत ने वह हेतु प्रकट कर दिया है।
वह हेतु निदान नष्ट किया जा चुका है;
महाश्रमण (बुद्ध) की ऐसी ही शिक्षा है।'

यदि हम इन दो को मूर्तियों या चैत्यों में रक्खेंगे तो हमें प्रचुर सुख प्राप्त होंगे। यही कारण है कि सूत्र दृष्टान्तों में मूर्तियाँ या चैत्य बनाने का पुण्य अकथनीय बताते हैं। यदि मनुष्य जौ के दाने के समान छोटी प्रतिमा, या छोटे उन्नाव के परिमाण का चैत्य बनाकर उसपर एक गोल प्रतिमा या एक छोटी सुई के सदृश छड़ी रख दे, तो भी उससे उत्तम जन्म के लिए एक विशेष हेतु प्राप्त हो जाता है, और यह सात समुद्रों के समान असीम होगा, और पुण्यफल अगले चार जन्मों तक बना रहेगा। इस विषय का सविस्तर वर्णन अलग सूत्रों में मिलता है।

अध्यापकों तथा दूसरे लोगों को इस बात का सदा ध्यान रखना चाहिए। पवित्र प्रतिमा को स्नान कराना एक ऐसा पुण्य-कर्म है जिसके फल से प्रत्येक जन्म में बुद्ध से मिलाप होता है, और धूप तथा पुष्पों का चढ़ाना प्रत्येक आगामी जन्म में सुख और सम्पत्ति का देनेवाला है। आप करो, और दूसरों को ऐसा करने की शिक्षा दो, तब तुम्हें अपरिमेय सुख मिलेंगे।

---

* काश्यप मूलपाठ इस प्रकार देता है :—
'ये धर्मा हेतुप्रभवास्तेषां हेतुं तथागत उवाच।
तेषां च यो निरोध एवं वादी महाश्रमणः॥'

[२९]

स्तोत्रगान-प्रक्रिया

बुद्ध के नामों का उच्चारण करके उसकी पूजा करने की रीति दिव्य भूमि (चीन) में लोग जानते हैं, क्योंकि यह प्राचीन समय से चली आ रही है (और इसका अनुष्ठान किया जा रहा है) परन्तु बुद्ध का गुणानुवाद करके उसकी स्तुति करने की रीति का प्रचार वहाँ नहीं रहा। शेषोक्त रीति प्रथमोक्त से अधिक महत्त्व की है, क्योंकि वास्तव में, केवल उसके नामों का सुनना ही उसके ज्ञान की श्रेष्ठता का अनुभव करने में हमें सहायता नहीं देता; किन्तु वर्णनात्मक स्तोत्रों में उसका गुणानुवाद करने से हम समझ सकते हैं कि उसके गुण कितने बड़े हैं। पश्चिम (भारत) में भिक्षु लोग चैत्य-वन्दन और साधारण पूजा तीसरे पहर देर से या सायंकाल सन्ध्या-समय करते हैं। सभी एकत्रित भिक्षु अपने विहार के द्वार से बाहर निकलकर, धूप और पुष्प चढ़ाते हुए, स्तूप की तीन बार प्रदक्षिणा करते हैं। वे सब घुटनों के बल बैठ जाते हैं, और उनमें से अच्छा गानेवाला एक भिक्षु, श्रुतिमधुर, शुद्ध और मंजुल स्वर से गुरुदेव के गुणों का वर्णन करनेवाला स्तोत्र गाना आरम्भ करता है, और दस-बीस श्लोक गाता है। तब वे क्रमशः विहार के उस स्थान में लौट आते हैं, जहाँ वे साधारणतया इकट्ठे हुआ करते हैं। जब वे सब बैठ जाते हैं तब एक सूत्र-पाठी, सिंहासन पर चढ़कर, एक छोटा-सा सूत्र पढ़ता है। यथोचित परिमाण का सिंहासन प्रधान भिक्षु के समीप रक्खा जाता है। ऐसे अवसर पर जो धर्मग्रन्थ पढ़े जाते हैं। उनमें से 'तीन भागों में पूजा'* प्रायः उपयोग में लाई जाती है। यह पूजनीय अश्वघोष का किया हुआ संग्रह है। पहले भाग में, जो दस श्लोकों का है, तीन पूज्यों (त्रिरत्न) की स्तुति का भजन है। दूसरा भाग बुद्ध-वचनों की बनी हुई कुछ पवित्र पुस्तकों का संग्रह है। स्तोत्र के बाद, और बुद्ध के वचनों के पाठ के बाद, पूजा के

---

* मूलार्थतः तीन बार खोली हुई पूजा।

तीसरे भाग के रूप में, दस से अधिक श्लोकों का एक अतिरिक्त भजन होता है। इसमें मनुष्य के पुण्य को परिपक्व करने की कामना प्रकट करनेवाली प्रार्थनायें होती हैं। ये तीनों भाग एक दूसरे के बाद अविच्छिन्न रूप से आते हैं। इसी से इसका नाम--तीन भागोंवाली पूजा निकला है। जब यह समाप्त हो जाती है, तब सभी एकत्रित भिक्षु 'सुभाषित' कहते हैं, अर्थात् 'अच्छा कहा", सु अच्छा, और भाषित कहा। ऐसे शब्दों-द्वारा धर्म-पुस्तकों को उत्तम कहकर उनकी सराहना की जाती है। वे कभी इस शब्द के स्थान में 'साधु!' अर्थात् 'अच्छा किया' कहते हैं।

सूत्र-पाठी के उतर आने पर, प्रधान भिक्षु उठकर सिंहासन को नमस्कार करता है। यह कर चुकने के बाद वह पुण्यात्माओं* के आसनों को प्रणाम करता है, और तब अपने स्थान पर वापस आ जाता है। अब दूसरे दर्जे का भिक्षु उठकर पहले भिक्षु के सदृश ही उनको प्रणाम करता और पीछे से प्रधान भिक्षु को नमस्कार करता है।

जब वह अपने स्थान पर लौट आता है तब तीसरे दर्जे का भिक्षु वही प्रक्रियायें करता है, और उसी रीति से सारे भिक्षु क्रमशः करते हैं। परन्तु यदि एक बहुत बड़ा समूह उपस्थित हो तो बाक़ी भिक्षु सबके सब एक ही बार सभा को नमस्कार करके स्वेच्छानुसार वापस चले आते हैं। उप-र्युक्त वर्णन उन क्रियाओं का है जिनका अनुष्ठान पूर्वी आर्य देश (पूर्वी भारत) के अन्तर्गत ताम्रलिप्ति† के भिक्षु करते हैं।

नालन्द विहार में भिक्षुओं की संख्या बहुत बड़ी है, और एक स्थान में इतने लोगों का इकट्ठा होना कठिन है। इस विहार में आठ महा-शालायें (हॉल कमरे) और तीन सौ कोठरियाँ हैं। प्रत्येक भिक्षु के सुभीते

---

* 'पुण्यात्माओं' से अभिप्राय बोधिसत्वों और अर्हतों से है।

† एक प्राचीन राज्य और नगर (अब हुगली के मुहाने पर, तमलुक) इ-त्सिङ्ग के समय में यह भारत और चीन के बीच व्यापार का केन्द्र था।

के लिए पूजा केवल अलग-अलग ही हो सकती है। इसलिए रीति यह है कि प्रतिदिन एक स्तोत्र गानेवाले को भेजा जाता है। वह एक स्थान से दूसरे स्थान पर भजन गाता हुआ घूमता है। उसके आगे-आगे धूप और फूल लिये हुए विहार के साधारण सेवक और बच्चे* जाते हैं। वह एक महाशाला से दूसरी में जाता है, और प्रत्येक में पूजा के भजन गाता है। वह हर बार उच्च स्वर से नया पाँच श्लोक बोलता है और उसकी आवाज चारों ओर सुनाई देती है। संध्या-समय वह इस कर्त्तव्य को समाप्त कर देता है। इस स्तोत्रगायक को विहार की ओर से प्रायः कोई विशेष पूजा (भेंट) दी जाती है। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे मनुष्य हैं, जो गन्ध-कुटी (मंदिर) की ओर मुँह किये, अकेले बैठे हुए, हृदय में बुद्ध का गुण-गान करते हैं। कुछ दूसरे लोग ऐसे हैं, जो मंदिर में जाकर, (एक छोटे से दल में) अपने शरीरों को सीधा रखते हुए एक-दूसरे के साथ घुटनों के बल बैठ जाते हैं, और, अपने हाथों को पृथ्वी पर रखकर, अपने सिरों से पृथ्वी को छूते हैं, और इस प्रकार 'त्रिगुणित वन्दना' करते हैं। ये हैं पूजा की विधियाँ जो पश्चिम में (अर्थात् भारत में) प्रचलित हैं। बूढ़े और दुर्बल भिक्षुओं को पूजा करते समय छोटी-छोटी चटाइयों का उपयोग करने की आज्ञा है। यद्यपि (चीन में) बुद्ध की प्रशंसा के भजन चिरकाल से विद्यमान हैं, परन्तु व्यावहारिक प्रयोजन के लिए उनके उपयोग की रीति भारत (मूलार्थतः 'ब्रह्मराष्ट्र') में प्रचलित रीति से कुछ भिन्न है।

यह सच है कि, जब स्वर को बहुत लम्बा कर दिया जाता है, तब गाये हुए भजन का अर्थ समझना कठिन होता है। परन्तु एक निपुण

---

*वे उपासक जो भिक्षु के निवास पर मुख्यतः धर्म्म-ग्रन्थों के अध्ययन के लिए आते हैं, और जिनकी इच्छा अपने बाल मुँड़ाने और काला चोला पहनने की होती है, 'बच्चे' (अर्थात् "मानव") कहलाते हैं।

व्यक्ति को 'एक सौ पचास श्लोकों का स्तोत्र,* चार सौ श्लोकों का स्तोत्र' या कोई और प्रशंसा का भजन रात को गाते सुनना बड़ी ही मनोरम चीज है। उस समय एकत्रित भिक्षु उपवास की रात को (जैसी की उपोसथ की रात होती है) बहुत चुपचाप रहते हैं। भारत में पूजा के समय गाने के लिए अनेक स्तोत्र बड़ी सावधानता-पूर्वक परम्परा से चले आ रहे हैं, क्योंकि प्रत्येक सुधी विद्वान् ने जिस किसी व्यक्ति को सबसे अधिक पूजा के योग्य समझा है, उसकी श्लोकों में प्रशंसा की है। ऐसा मनुष्य पूजनीय मातृचेट था, जो अपनी महान् साहित्यिक बुद्धि और सद्‌गुणों के कारण, अपने काल के सभी विद्वानों से बढ़ा हुआ था। उसके विषय में यह कथा सुनाई जाती है। अपने जीवन-काल में, बुद्धदेव एक बार अपने, शिष्यों को उपदेश देते हुए एक वन के लोगों में विचर रहे थे। वन की एक बुलबुल ने बुद्ध को, स्वर्णगिरि के समान प्रतापशाली और अपने पूर्ण लक्षणों से अलंकृत देखकर अपना मधुर स्वर निकालना आरम्भ किया, मानो वह उनकी स्तुति गा रही है। बुद्ध ने, अपने शिष्यों की ओर पीछे देखकर, कहा—'यह पक्षी मेरे दर्शन से हर्षावेश में, बेसुध होकर सुरीले राग अलाप रहा है। इस उत्तम कर्म के कारण, मेरे प्रयाण (निर्वाण) के पश्चात् यह पक्षी मनुष्य-जन्म पायेगा, और इसका नाम मातृचेट† होगा। यह सच्ची चाह के साथ मेरे गुणगान करेगा।' पहले, एक दूसरे धर्म्म के अनुयायी के रूप में जब वह मनुष्य-जन्म में आया तब मातृचेट एक यति था, और महेश्वरदेव की पूजा करता था। इस देवता का पुजारी होने के दिनों में,

---

* डेढ़ सौ श्लोकों और ४०० श्लोकों के स्तोत्र मातृचेट के हैं। जिन दिनों इ-त्सिङ्ग नालन्द विहार में रहता था (सन् ६७५ ई० से सन् ६८५ तक) उसने १५० श्लोकों का चीनी में अनुवाद, और फिर पीछे से (सन् ७०८ ई०) उसका संशोधन किया। यह 'सार्धशतक-बुद्धप्रशंसागाथा' कहलाती है। ४०० श्लोकों का चीनी म अनवाद नहीं हुआ था।

† इ-त्सिङ्ग समझता है 'मातृ माता, चेट लड़का या बच्चा।'

उसने उसकी प्रशंसा में स्तोत्र बनाये थे। परन्तु इस बात का पता लग जाने पर कि उसके जन्म* की भविष्यद्वाणी हो चुकी है, वह रंगदार चोला पहनकर बौद्ध-धर्म्म का अनुयायी बन गया, और सांसारिक चिन्ताओं से मुक्त हो गया। वह बहुधा बुद्ध की प्रशंसा तथा कीर्ति-गान में ही लगा रहता और अपने पिछले पापों के लिए पश्चात्ताप करता था। तब से वह बुद्ध के उत्तम दृष्टान्त पर चलने का अभिलाषी रहता था, और उसे खेद होता था कि मैं परम गुरु (बुद्ध) की केवल प्रतिमा ही देख सका हूँ, स्वयं उनके दर्शन नहीं कर सका, इस भविष्य कथन (व्याकरण) की संसिद्धि में उसने अपने पूरे साहित्यिक बल से बुद्ध के सद्गुणों की प्रशंसा के भजन लिखे।

उसने पहले एक चार सौ श्लोकों का स्तोत्र बनाया, और तत्पश्चात् एक दूसरा डेढ़ सौ श्लोकों का। वह प्रायः छः पारमितों का वर्णन और जगन्मान्य बुद्ध के उत्कृष्ट गुणों की व्याख्या करता है। ये मनोहर रचनायें सुन्दरता में स्वर्गीय पुष्पों के समान हैं, और उनमें वर्णित उच्च सिद्धान्त माहात्म्य में पर्वत के उच्च शिखरों की प्रतियोगिता करते हैं। अतएव भारत में जो भी स्तोत्र बनाता है वह, उसे साहित्य का पिता समझकर, उसी की शैली का अनुकरण करता है। यहाँ तक कि बोधिसत्त्व असंग और वसुबन्धु जैसे मनुष्यों ने भी उसकी बड़ी प्रशंसा की है।

सर्वत्र भारत में यह रीति है कि भिक्षु बननेवाले प्रत्येक मनुष्य को, ज्यों ही वह पाँच और दस शील सुना सकता है, मातृचेट के दो भजन सिखला दिये जाते हैं। यह क्रम महायान और हीनयान दोनों सम्प्रदायों में प्रचलित है। इसके छः कारण हैं। पहले, इन स्तोत्रों से हमें बुद्ध के महान् और गम्भीर गुणों का ज्ञान हो जाता है। दूसरे, उनसे हमें श्लोक बनाने का ढंग मालूम

---

*मूलार्थतः 'उसके नाम की भविष्यद्वाणी हो चुकी है।'

हो जाता है। तीसरे, उनसे भाषा* की शुद्धता निश्चित हो जाती है। चौथे, उनको गाने से छाती बढ़ती है। पाँचवें, उनका उच्चारण करने से मनुष्य को सभा में घबराहट नहीं होती। छठे, उनके उपयोग से नीरोग जीवन बढ़ता है। जब मनुष्य इन्हें सुनाने में समर्थ हो जाता है, तब वह दूसरे सूत्र सीखने लगता है। परन्तु ये सुन्दर साहित्यिक रचनायें अभी तक चीन में नहीं लाई गईं। अनेक लोगों ने उनपर टीकायें लिखी हैं, और उनके अनुकरण भी कुछ थोड़े नहीं। स्वयं बोधिसत्त्व ने, जिसने ऐसा ही एक अनुकरण रचा था, डेढ़ सौ श्लोकों में से प्रत्येक के पहले एक-एक श्लोक बढ़ा दिया, जिससे वे सब तीन सौ श्लोक हो गये, और 'मिश्रित' भजन (सम्भवतः संयुक्त प्रशंसा) कहलाते हैं। मृग-दाव के शाक्यदेव नामक एक विश्रुत भिक्षु ने 'जिन' के प्रत्येक श्लोक के साथ फिर एक-एक श्लोक और जोड़ दिया, इसलिए उनकी संख्या चार सौ पचास हो गई। ये 'दुहरे संयुक्त' स्तोत्र कहलाते हैं।

जो लोग धार्मिक कवितायें बनाते हैं वे इन्हीं का नमूना सामने रखते हैं। बोधिसत्त्व नागार्जुन ने कविता में एक पत्र लिखा था। यह 'सुहृल्लेख' अर्थात् 'घनिष्ठ मित्र के नाम पत्र' कहलाता है। यह उसके जेतक नाम के बूढ़े दानपति को समर्पित किया गया था, यह दानपति दक्षिण भारत में एक बड़े देश का राजा था। जिसका नाम सद्वाहन, या शातवाहन था। उस रचना का सौन्दर्य आश्चर्यजनक है और सन्मार्ग के विषय में उसके उपदेश उत्साहवर्धक हैं। उसकी दया, उसकी बन्धुता से बढ़ी हुई है, और लेख के अर्थ अनेक हैं। वह लिखता है कि हमें 'तीन पूज्यों'† (अर्थात् त्रिरत्न) का सम्मान और उनमें विश्वास करना

---

* शब्दार्थतः 'वे बोलने की इन्द्रिय अर्थात् जीभ को शुद्ध कर देते हैं।'

† नीचे लिखे तीन वाक्य ही त्रिरत्न हैं—

(१) मैं बुद्ध की शरण लेता हूँ क्योंकि वह दो-पैरवालों में सबसे पूज्य है।

चाहिए और अपने माता-पिता का पालन-पोषण करना चाहिए। हमें शील रखना, और पाप-कर्मों से बचना चाहिए।

हमें मनुष्यों को तब तक अपना सङ्गी नहीं बनाना चाहिए जब तक कि हम उनका चरित्र न जान लें। हमें धन और सौन्दर्य को अति मलिन वस्तुएँ समझना चाहिए। हमें अपने गृह-कार्यों की भली भाँति व्यवस्था करनी चाहिए, और सदा स्मरण रखना चाहिए कि संसार स्थायी नहीं। वह प्रेतों, और तिर्यग्योनि की अवस्थाओं का पूर्ण रूप से वर्णन करता है, और वैसे ही देवों, मानवों, और नारकी आत्माओं की अवस्थायें बताता है। वह और लिखता है कि चाहे हमारे सिर पर आग जल रही हो, हमें इसे बुझाने में कोई समय नष्ट नहीं करना चाहिए, किन्तु, 'कारणत्व की शृङ्खला' की सचाइयों का चिन्तन करते हुए, नित्य अपने मोक्ष पर दृष्टि रखनी चाहिए।

वह हमें तीन प्रज्ञाओं पर आचरण करने का उपदेश देता है ताकि हम अष्ट आर्य मार्गों को स्पष्ट रूप से समझ लें, और वह हमें चार आर्य-सत्यों की शिक्षा देता है, ताकि हम सिद्धि की दुहरी* प्राप्ति का अनुभव कर लें। अवलोकितेश्वर की तरह हमें मित्रों और शत्रुओं में कोई भेद नहीं रखना चाहिए। तब हम, बुद्ध अमितायुस् के प्रताप से, परलोक में सदा के लिए सुखावती में रहेंगे। वहाँ से मनुष्य मर्त्यलोक पर मोक्ष की श्रेष्ठ शक्ति का भी प्रभाव डाल सकता है।

भारत में विद्यार्थी लोग शिक्षा आरम्भ करते ही इस पत्र को कविता

---

(२) मैं धर्म की शरण लेता हूँ क्योंकि वह कामना से मुक्ति दिलानेवाली चीजों में सबसे अधिक पूज्य है।

(३) मैं संघ की शरण लेता हूँ क्योंकि वह सभाओं में सबसे अधिक पूज्य है।

* काश्यप कहता है कि सिद्धि की दुहरी प्राप्ति उस बड़ी प्रज्ञा और बड़ी दया की प्राप्ति है जो कि एक बुद्ध में होती है।

में याद कर लेते हैं, परन्तु बहुत पक्के भक्त आयु-पर्यन्त इसे अपने अध्ययन का एक विशेष विषय बना रखते हैं। जिस प्रकार, चीन में, युवक भिक्षु-गण अवलोकितेश्वर के विषय में सूत्र (सद्धर्म-पुण्डरीक में अध्याय २४) और बुद्ध का अन्तिम उद्बोध (संक्षिप्त महापरिनिर्वाणसूत्र) पढ़ते हैं। जातकमाला नामक इसी प्रकार का एक दूसरा ग्रन्थ है। जातक का अर्थ है 'पूर्व जन्म', और 'माला' का 'हार'; भाव यह है कि बोधि-सत्त्व (पीछे से बुद्ध) के पूर्व जन्मों में किये हुए कठिन कार्यों की कथायें एक स्थान में पिरोई गई हैं। जन्म-कथाओं की रचना पद्य में करने का उद्देश्य एक सुन्दर शैली में, जो सर्वसाधारण को प्यारी और पाठकों को चित्ताकर्षक मालूम हो, सार्वत्रिक मोक्ष की शिक्षा देना है। एक बार राजा शीलादित्य* ने, जिसे साहित्य से अत्यन्त प्रीति थी, आज्ञा दी—'हे कविता के अनुरागियो, कल सबेरे अपनी कुछ कवि-तायें लाकर मुझे दिखलाओ।' जब उसने उन्हें इकट्ठा किया तब उनकी पाँच सौ गठरियाँ बनीं, और परीक्षा करने पर, जान पड़ा कि उनमें से बहुत-सी जातक-मालायें हैं। इस वृत्तान्त से मनुष्य समझता है कि जातकमाला प्रशंसात्मक कविताओं के लिए सबसे सुन्दर (प्रिय) विषय है। राजा शीलादित्य ने बोधिसत्त्व जीमूतवाहन की कथा को, जिसने एक नाग के स्थान में अपने आपको सौंप दिया था, श्लोकबद्ध किया था। इस अनुवाद को सङ्गीत (शब्दार्थ, तार औ बाँसुरी) का रूप दिया गया था। वह इसे बाजों के साथ गवाता था और साथ-साथ नृत्य और अभिनय भी होता था। इस प्रकार उसने इसे अपने समय में सर्वप्रिय बनाया। महासत्त्व चन्द्र (मूलार्थतः 'चन्द्र अधिकारी', सम्भवतः चन्द्र-दास) ने, जो पूर्वी भारत में एक विद्वान् मनुष्य था, राजा विश्वान्तर के विषय में, जिसे अब तक सुदान कहा जाता है, एक काव्यमय गीत की रचना की और भारत के पाँचों देशों में सभी लोग इसे गाकर नाचते हैं।

---

* कन्नौज का राजा शीलादित्य।

अश्वघोष ने भी कुछ काव्यमय गीत और सूत्रालङ्कारशास्त्र लिखा था। उसने बुद्धचरितकाव्य भी रचा था। इस विस्तीर्ण ग्रन्थ का यदि अनुवाद किया जाय तो इसके दस से अधिक पुस्तक-खण्ड बन जायेंगे। इसमें तथागत के जीवन के—उस समय से लेकर जब वह अभी राजभवन में ही था, शाल वृक्षों की पंक्ति के नीचे उसके अन्तिम समय तक—मुख्य सिद्धान्तों और कार्यों का वर्णन है। इस प्रकार सभी घटनायें एक ही कविता में बता दी गई हैं।

यह भारत के पाँचों भागों और दक्षिणी सागर के देशों में सर्वत्र पढ़ा या गाया जाता है। वह थोड़े से शब्दों में अनेक प्रकार के अर्थ और भाव भर देता है, जिससे पाठक के मन को बड़ा आनन्द प्राप्त होता है और वह कविता को पढ़ते-पढ़ते थकता नहीं। इसके अतिरिक्त, इस पुस्तक को पढ़ना एक पुण्य-कार्य समझना चाहिए, क्योंकि इसमें श्रेष्ठ सिद्धान्त संक्षिप्त रूप में दिये हुए हैं।

[३०]

विधिविरुद्ध वन्दना

वन्दन के विषय में स्पष्ट नियम हैं। दिन और रात में छः बार उपासना-विषयक अभ्यास करना ठीक है। इसके लिए या तो फुर्ती से हाथ-पैर हिलाने चाहिए, या एक कमरे में चुपचाप निवास करते हुए भिक्षा लाना, धूताङ्गों को पूरा करना और आत्म-सन्तोष के सिद्धान्त पर आचरण करना चाहिए। और उचित यह है कि केवल तीन कपड़े (त्रिचीवर) धारण किये जायँ और विलास की कोई वस्तुएँ न रक्खी जायें; संसार के प्रलोभनों से भागते हुए, मनुष्य को सदा मोक्ष का ही ध्यान रखना चाहिए। सम्प्रदाय के एक ही नियम और प्रक्रिया को विविध रीतियों से करना ठीक नहीं है। भिक्षु का चोला पहननेवाले मनुष्य के लिए बाजार-जैसे स्थानों में साधारण भक्तजनों को प्रणाम करना भी ठीक नहीं। विनय-पुस्तकों में ऐसे आचरणों का निषेध है।

बुद्ध ने कहा—"केवल दो समूह ऐसे हैं जिनको तुम्हें प्रणाम करना चाहिए। एक तो, तीन रत्न; दूसरा, बड़े भिक्षु।" कुछ लोग ऐसे हैं, जो लोगों से रुपया लेने के लिए बुद्ध की मूर्त्ति को राज-मार्ग में ले आते हैं और इस प्रकार पूजा की पवित्र चीजों को मैल और धूल से अपवित्र करते हैं। फिर कुछ दूसरे लोग ऐसे हैं जो अपने शरीर को झुकाते, मुख को घायल करते, जोड़ों को काट डालते या खाल को हानि पहुँचाते हैं और इस प्रकार मानो किसी अच्छे उद्देश्य के लिए (इन्द्रिय-संयम के चिह्नों का) झूठा दिखलावा करके उपजीविका पैदा करना चाहते हैं। ऐसी रीतियाँ भारतवर्ष में नहीं हैं। भविष्य में ऐसे व्यापारों से लोगों को भटकने मत दो!

[३१]

पश्चिम में शिक्षा की रीति

महामुनि (बुद्ध) के एक ही वाक्य में 'तीन ...' श्लोकों (की सभी भाषाओं) का समावेश है। यह 'पाँच मार्गों* पर चलनेवालों को योग्यता के अनुसार, सात विभक्ति और नौ पुरुष प्रत्ययों† (के साथ समाप्त होनेवाले शब्दों) में सिखला दिया जाता है, और मोक्ष का एक साधन है। यह केवल विचार पर ही असर करनेवाले सिद्धान्त का भण्डार है और स्वर्ग का राजा (इन्द्र) अनिर्वचनीय भावों की इस पवित्र पुस्तक की रक्षा करता है। शब्दों में प्रकट करने से मनुष्य की बुद्धि उसकी विविध अवस्थाओं और मानसिक क्षमताओं के अनुसार विकसित होती

---

* पाँच जातियाँ—देव, मानव, पशु, प्रेत, और नरक।

† सात विभक्तियों को व्याकरण में 'सुप्' कहते हैं। देसी वैयाकरण केवल सात विभक्तियाँ मानते हैं, और सम्बोधन को प्रथमा विभक्ति के अन्तर्गत कर देते हैं। नौ प्रत्ययों को व्याकरण में 'तिङ्' कहते हैं, जिसका अर्थ है धातु की रूप-सिद्धि में सारे पुरुष प्रत्यय।

हैं। यह मनुष्य को घबराहट से निकालकर सत्य के अनुरूप बनाता और उसे निर्वाण प्राप्त कराता है।

*परमार्थ-सत्य, 'सबसे बड़ी सचाई', संवृति-सत्य, 'गौण या छिपी हुई सचाई'। पुराने अनुवादकों ने शेषोक्त का अर्थ 'सांसारिक सचाई' किया है, परन्तु इससे मूल के अर्थ पूर्ण रूप से प्रकट नहीं होते। अर्थ यह है कि साधारण बातें वास्तविक अवस्था को छिपा लेती हैं, उदाहरणार्थ, घड़े जैसी प्रत्येक वस्तु में, वास्तव में केवल मिट्टी होती है, परन्तु लोग झूठे विशेषण से उसे घड़ा समझते हैं। शब्द की अवस्था में सब मधुर स्वर शब्द ही हैं, पर लोग भूल से उसे गीत समझते हैं। केवल आन्तरिक बुद्धि ही काम करती है, और कोई व्यक्त विषय नहीं है। परन्तु अविद्या बुद्धि को ढँक देती है, और एक विषय के अनेक रूपों की मायामयी सृष्टि होती है। ऐसी अवस्था होने से मनुष्य नहीं जानता कि मेरी अपनी बुद्धि क्या है, और वह समझता है कि वस्तु का अस्तित्व मन से बाहर है। उदाहरणार्थ, मनुष्य अपने सामने पड़ी हुई रस्सी को साँप समझ सकता है। इस प्रकार साँप की कल्पना भ्रान्ति से रस्सी के साथ लगा दी जाती है, और सच्ची बुद्धि चमकने से बन्द हो जाती है। इस प्रकार यथार्थता या सच्ची अवस्था का (भ्रान्त सम्बन्ध से) ढँक जाना 'संवृति' कहलाता है।

व्याकरण को संस्कृत में शब्द-विद्या कहते हैं। यह पाँच विद्याओं† में से एक है; शब्द का अर्थ है 'वाणी', और विद्या, 'विज्ञान'।

---

* इसे 'शब्दानुशासन' भी कहते हैं। भ० दत्त।

† पाँच विद्यायें ये हैं—(१) शब्दविद्या, अर्थात् 'व्याकरण और अभिधान-रचना', (२) शिल्पस्थानविद्या, (३) चिकित्साविद्या, (४) हेतुविद्या, और (५) अध्यात्मविद्या।

१ सूत्र

सारी शब्द-विद्या का आधार सूत्र है। इस नाम का अनुवाद 'छोटा वचन'* किया जा सकता है; और यह इस बात का द्योतक है कि महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों की एक संक्षिप्त रूप में व्याख्या की गई है। इसमें १,००० श्लोक हैं, और यह पाणिनि की रचना है, जो प्राचीन काल में एक बहुत बड़ा विद्वान् था। कहते हैं कि उसे दैवी ज्ञान था, महेश्वरदेव उसे सहायता देते थे, और उसके तीन नेत्र थे; आजकल के भारतवासियों का प्रायः इसमें विश्वास है। बच्चे आठ वर्ष की आयु में इस सूत्र को सीखना आरम्भ करते हैं, और आठ मास में इसे रट सकते हैं।

२ धातु पर पुस्तक

यह १,००० श्लोकों की है और इसमें विशेष रूप से व्याकरण की धातुओं का वर्णन है। यह उतनी ही उपयोगी है जितना कि उपर्युक्त सूत्र।

३ तीन खिलों पर पुस्तक

खिल का अर्थ है 'ऊजड़ भूमि'। इसका यह नाम इसलिए है कि (व्याकारण का) यह (भाग) उस रीति के सदृश है जिससे किसान अनाज के लिए अपने खेत तैयार करता है। इसे हम ऊजड़ भूमि के तीन टुकड़ों पर पुस्तक कह सकते हैं। (१) अष्टधातु, १,००० श्लोक हैं; (२) वेन-च (मण्ड या मुण्ड), इसमें भी १,००० श्लोक हैं; (३) उणादि भी १,००० श्लोकों का है।

१. अष्टधातु। इसमें सात विभक्तियों (सुप्) दस लकारों† और अठारह अन्तिमों (तिङ, २ × ९ पुरुष-सम्बन्धी प्रत्ययों) का वर्णन है।

---

* अधिक मूलार्थतः, 'जो बोलने में छोटा और अर्थ में स्पष्ट है।'

† इसका संकेत पाणिनि के लट्, लङ्, लिट्, लिङ्, लुट्, लुङ्, लृट्, लृङ्, लेट्, लोट् की ओर है।

क. सात विभक्तियाँ। प्रत्येक संज्ञा की सात विभक्तियाँ, और प्रत्येक विभक्ति के तीन वचन होते हैं, अर्थात् एकवचन, द्विवचन और बहुवचन; इसलिए प्रत्येक संज्ञा के सब मिलाकर इक्कीस रूप होते हैं। उदाहरणार्थ, शब्द 'पुरुष' को लीजिए। यदि एक पुरुष से तात्पर्य हो तो यह 'पुरुषः' होगा, दो हों तो 'पुरुषौ' और तीन (या अधिक) हों तो 'पुरुषाः'। संज्ञा के इन रूपों को गुरु और लघु (सम्भवतः, 'स्वरयुक्त और स्वरहीन'), या खुले साँस से और बन्द साँस से उच्चारण किये जानेवाले (शायद 'खुली स्वरवाली या बन्द स्वरवाली संज्ञायें') भी कहा जाता है। सात विभक्तियों के अतिरिक्त आठवीं—सम्बोधन (आमन्त्रित)—भी है, जो आठ विभक्तियाँ पूरी कर देती है। जैसे पहली विभक्ति के तीन वचन हैं, वैसे ही बाक़ी सबके हैं। इनके रूप बहुत ज्यादा होने से यहाँ नहीं दिये गये। संज्ञा सुबन्त कहलाती है और (पदसिद्धि से) इसके (३ × ८) चौबीस रूप होते हैं।

ख. दस लकार। (क्रिया के कालों के लिए) ल के साथ दस चिह्न हैं; क्रिया की रूपसिद्धि (मूलार्थतः उच्चारण) में तीन कालों, अर्थात् भूत, वर्तमान और भविष्य का भेद प्रकट किया जाता है।

ग. अठारह तिङ। ये (क्रिया के तीन वचनों के) उत्तम, मध्यम, और प्रथम पुरुष के रूप हैं और योग्य और अयोग्य, या इस और उस* के भेद दिखलाते हैं। इस प्रकार (एक काल में) प्रत्येक क्रिया के अठारह भिन्न-भिन्न रूप हैं, जो तिङन्त कहलाते हैं।

२. बेन-च (भण्ड या मुण्ड में) (धातु को एक या अनेक प्रत्ययों से) संयुक्त करके शब्दों के बनाने का वर्णन है। उदाहरणार्थ, संस्कृत में पेड़

---

* यहाँ 'आत्मनेपद और परस्मैपद' होना चाहिए था। 'यह और वह' शायद 'आत्मने' और 'परस्मै' को प्रकट करने की एक अस्पष्ट रीति हो; क्योंकि चीनी में इन परिभाषाओं के लिए कोई पर्याय नहीं। फिर भी, 'योग्य और अयोग्य' बहुत विचित्र है।

के अनेक नामों में से एक नाम 'वृक्ष'* है। इस प्रकार किसी वस्तु या विषय के लिए नाम, सूत्र के नियमों के अनुसार, जो बीस से अधिक श्लोकों के बने हैं, (अक्षरों को) इकट्ठा जोड़कर बनाया जाता है।

३.उणादि। यह प्रायः वही है जो कि उपर्युक्त (मण्ड) है। भेद केवल इतना है कि जिस बात की एक में पूर्ण रूप से व्याख्या की गई है वह दूसरे में संक्षेप से लिखी गई है, और व्युत्क्रमम्।

तीन खिलों की पुस्तक को लड़के दस वर्ष की आयु में सीखना आरम्भ करते हैं, और तीन वर्ष तक परिश्रम के साथ पढ़ने से उन्हें अच्छी तरह समझ जाते हैं।

५ वृत्ति-सूत्र (काशिका वृत्ति)

यह ऊपर के सूत्र (अर्थात् पाणिनि के सूत्र) की टीका है। पहले समयों में अनेक टीकायें रची गई थीं, और यह उन सबमें उत्तम है।

यह सूत्र का पाठ देती और इसके अनेक प्रकार के अर्थों की बड़ी बारीकी से व्याख्या करती है। इसमें सारे १८,००० श्लोक हैं। यह *ब्रह्माण्ड*† *के नियमों और देवताओं तथा मनुष्यों की मर्यादाओं को* प्रकट करती है। पन्द्रह वर्ष के लड़के इस वृत्ति को पढ़ना आरम्भ करते हैं, और पांच वर्ष में इसे समझ लेते हैं।

यदि चीन के मनुष्य भारत में अध्ययन के लिए जायँ, तो उन्हें सबसे पहले (व्याकरण के) इस ग्रन्थ का अध्ययन करना पड़ता है,

---

* वृक्ष एक उणादि शब्द है जो व्रश्च् के साथ स् और कित् लगाने से बना है।

† व्याकरण की एक टीका के लिए 'विश्वब्रह्माण्ड में जो कुछ है उस सारे के नियम' कहना विचित्र जान पड़ता है, और यह बात काशिका पर घटती नहीं। इस वाक्य का अर्थ 'सूत्र में जो कुछ है उस सारे के नियम' लिया जा सकता है, जैसा कि म० फूजीशीमा ने लिया है। मेरा अनुवाद काश्यप और कसावरा से मिलता है।

फिर दूसरे विषय; यदि ऐसा न होगा तो उनका परिश्रम फेंक दिया जायगा। ये सब ग्रन्थ कण्ठस्थ होने चाहिए। परन्तु यह नियम उच्च बुद्धि के लोगों के लिए ही लागू है। मध्यम या थोड़ी योग्यता के मनुष्यों के लिए उनकी इच्छाओं के अनुसार एक भिन्न उपाय (विधि) का अवलम्बन करना चाहिए। उन्हें दिन-रात घोर परिश्रम के साथ अध्ययन करना, और एक पल भी व्यर्थ के विश्राम में न खोना चाहिए।

यह वृत्ति-सूत्र पण्डित जयादित्य* की रचना है। वह बहुत बड़ी योग्यता का मनुष्य था; उसकी साहित्यिक शक्ति बहुत आश्चर्यजनक थी। वह बात को एक ही बार सुनकर समझ लेता था, उसे दुबारा सिखाने का प्रयोजन नहीं होता था। वह तीन पूज्यों (अर्थात् त्रिरत्न) का आदर करता था और सदा पुण्य-कर्म्म किया करता था। उसकी मृत्यु हुए आज कोई तीस वर्ष हुए हैं (सन् ६६१-६६२)। इस वृत्ति का अध्ययन कर चुकने के पश्चात्, विद्यार्थी गद्य और पद्य की रचना सीखना आरम्भ करते हैं और हेतुविद्या तथा अभिधर्म्म-कोष में लग जाते हैं। न्याय-द्वार-तारक-शास्त्र† के अध्ययन से वे ठीक तौर पर अनुमान करते हैं; और जातकमाला के अध्ययन से उनकी ग्रहण-शक्ति बढ़ती है। इस प्रकार अपने उपाध्यायों से शिक्षा पाते और दूसरों को शिक्षा देते हुए वे प्रायः मध्य भारत के नालन्द-विहार में, या पश्चिमी भारत के वलभी (वला) देश में दो-तीन वर्ष व्यतीत करते हैं। ये दोनों स्थानों में प्रसिद्ध और प्रवीण मनुष्य

---

* इसने वामन के साथ मिलकर काशिकावृत्ति की रचना की थी। काशिका का मूलपाठ बनारस-संस्कृत-कालेज में हिन्दू-धर्म-शास्त्र के महोपाध्याय पण्डित बालशास्त्री ने (१८७६,१८७८) प्रकाशित किया था। बालशास्त्री ने १,२,५ और ६ जयादित्य के, और शेष वामन के ठहराये हैं।

† यह नागार्जुन की बनाई हुई हेतुविद्या की भूमिका है।

दल के दल इकट्ठे होकर सम्भव और असम्भव सिद्धान्तों पर विवाद करते हैं और जब ज्ञानियों-द्वारा उन्हें अपने मतों की विशिष्टता का निश्चय हो जाता है तब वे अपने पाण्डित्य के लिए दूर-दूर तक प्रसिद्ध हो जाते हैं। अपनी बुद्धि की तीक्ष्णता (मूलार्थतः 'खड्ग की तीक्ष्ण नोक') की परीक्षा के लिए वे राजा की सभा में जाकर (अपनी योग्यताओं का) तीक्ष्ण शस्त्र उसके सामने रख देते हैं; वहाँ वे व्यावहारिक शासन में अधिकार पाने के उद्देश्य से अपनी कल्पनायें उपस्थित करते और अपनी (राजनैतिक) योग्यता प्रदर्शित करते हैं। जब वे विवाद-भवन में उपस्थित होते हैं तब अपने आसन* को उठा-कर अपनी आश्चर्यजनक चतुराई प्रमाणित करने की चेष्टा करते हैं।

जब वे नास्तिकवाद का खंडन करते हैं तब उनके सभी प्रतिपक्षी विस्मित हो जाते हैं और अपनी हार स्वीकार करते हैं। तब उनकी कीर्त्ति-ध्वनि से (भारत के) पाँचों पर्वत गूंज उठते हैं और उनकी प्रसिद्धि मानो चारों सीमाओं के ऊपर से बहने लगती है। उन्हें भूमि मिलती है और उनकी पदोन्नति की जाती है; उनके विख्यात नाम, पुरस्कार के रूप में, उनके ऊँचे द्वारों पर सफ़ेदी से लिखे जाते हैं। इसके पश्चात् ज. व्यवसाय उन्हें पसन्द हो उसे वे कर सकते हैं।

६ चूर्णि

इसके अनन्तर वृत्ति-सूत्र पर चूर्णि नाम की एक टीका है, जिसमें २४,००० श्लोक हैं।

---

* मूलार्थतः 'आसनों को बढ़ाना या दुगना करना'। यह बहुत स्पष्ट नहीं। काश्यप कहता है कि यह एक भारतीय रीति थी कि जब एक मनुष्य शास्त्रार्थ में हार जाता था तो उसको अपना आसन विजेता के लिए छोड़ देना पड़ता था, जो उसे लेकर अपने आसन में मिला लेता था। इ-त्सिङ्ग इस परिभाषा का व्यवहार अपने 'प्रसिद्ध भिक्षुओं के वृत्तान्त' में भी करता है।

यह पण्डित पतञ्जलि की रचना है। फिर, इसमें भी पहले सूत्र (पाणिनि) देकर अस्पष्ट बातों की व्याख्या (मूलार्थतः 'खाल को छेदना') और इसमें वर्णित नियमों का विश्लेषण किया गया है, और यह अनेक कठिनाइयों को साफ़ करके* पिछली वृत्ति† की व्याख्या करती है। प्रौढ़ विद्यार्थी इसे तीन वर्ष में सीख लेते हैं।

७ भर्तृहरि-शास्त्र

इसके अनन्तर भर्तृहरि-शास्त्र है‡। यह पूर्वोल्लिखित चूर्णि की टीका है और भर्तृहरि नाम के एक परम विद्वान् की रचना है। इसमें २५,००० श्लोक हैं और मानव-जीवन तथा व्याकरण-शास्त्र के नियमों का पूर्ण रूप से वर्णन है। यह अनेक वंशों के उत्थान और पतन के कारण भी बताती है। ग्रन्थकार विद्यामात्र के सिद्धान्त से भली भाँति परिचित था और उसने हेतु तथा उदाहरण पर बड़ी कुशलता से विचार किया है। यह विद्वान् भारत के पाँचों खंडों में सर्वत्र बहुत प्रसिद्ध था और उसकी विशिष्टताओं को लोग सब कहीं ('आठों दिशाओं में') जानते

---

*चूर्णि का अर्थ है पीसना और उसका व्यवहार पतञ्जलि की टीका के नाम के रूप में होता है। निस्सन्देह इसका संकेत पतञ्जलि के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ, महाभाष्य की ओर है।

† क्या यहाँ कात्यायन के वार्त्तिक को 'वृत्ति' कहा गया है, अथवा व्याडिप्रणीत संग्रह को? यह विद्वानों को विचारना चाहिए। हो सकता है, महाभाष्य से पहले भी कोई वृत्ति पाणिनि के अष्टक पर हो।—भगवद्दत्त।

‡ इस ग्रन्थ का वास्तविक नाम त्रिपदी है। इसमें महाभाष्य के प्रथम तीन पादों की ही विस्तृत व्याख्या है। इसके कुछ भाग का एक पुराना लिखित ग्रन्थ बर्लिन के पुस्तकालय में है। उसी का फोटो मद्रास के राजकीय हस्तलिखित ग्रन्थों के संग्रह में है।—भगवद्दत्त।

थे। उसका 'तीन रत्नों' (अर्थात् रत्नत्रय) में अगाध विश्वास था और वह 'दुहरे शून्य'* का बड़ी धुन से ध्यान करता था। सर्वोत्कृष्ट धर्म्म के आलिङ्गन की इच्छा से वह परिव्राजक हो गया, परन्तु सांसारिक वासनाओं के वशीभूत होकर वह फिर गृहस्थी में लौट गया। इसी रीति से वह सात बार परिव्राजक बना और सात ही बार फिर गृहस्थी में लौट गया। जब तक कारण और कार्य की सच्चाई में मनुष्य का पूरा-पूरा विश्वास न हो, वह उसके सदृश उत्साह-पूर्वक कार्य नहीं कर सकता। उसने आत्म-निन्दा से भरे हुए ये श्लोक लिखे हैं—

संसार के प्रलोभन के द्वारा मैं गृहस्थी में लौट आया।

सांसारिक सुखों से मुक्त होकर मैं फिर परिव्राजक का चोला पहनता हूँ।

ये दो मनोवेग किस प्रकार

मुझे बालक समझकर मेरे साथ खेल रहे हैं?

वह धर्म्मपाल† का समकालीन था। एक बार जब वह मठ में प्रव्रजित (बनकर रहता) था, सांसारिक कामनाओं से तंग आकर उसकी

---

* 'दुहरा शून्य', अर्थात् 'आत्मा और धर्म दोनों खाली दिखलाया है।'

† एक के सिवाय बाक़ी सब संस्करणों में 'धर्म्मपाल' है, परन्तु एक में 'धर्म्म के अनेक उपाध्याय' हैं, जो कि लेख की भूल जान पड़ती है, क्योंकि पहले उपाध्यायों का उल्लेख किये बिना कोई मनुष्य ऐसा नहीं कह सकता कि 'वह धर्म्म के अनेक उपाध्यायों का समकालीन था'। इ-त्सिङ्ग ने पहले कभी कहीं 'धर्म्म के उपाध्यायों' का उल्लेख नहीं किया। उसने ऊपर जिन वैयाकरणों (अर्थात् पाणिनि, जयादित्य और पतञ्जलि) का उल्लेख किया है उनमें से केवल एक जयादित्य को ही बौद्ध लिखा गया है, परन्तु भिक्षु नहीं। इसलिए वह 'धर्म्म का उपाध्याय' नहीं। इस-लिए पूर्वापर से हम कोई दूसरा पाठ ग्रहण करने पर विवश हैं। अनेक

रुचि गृहस्थी में लौट जाने की हुई। परन्तु वह दृढ़ रहा और उसने एक विद्यार्थी को मठ के बाहर एक गाड़ी लाने को कहा। कारण पूछने पर उसने उत्तर दिया—'यह वह स्थान है जहाँ मनुष्य पुण्य-कर्म करता है और यह उन लोगों के निवास के लिए है जो शील रखते हैं। अब मेरे भीतर मनोराग पहले ही प्रबल हो चुका है और मैं सर्वोत्तम धर्म्म पर चलने में असमर्थ हूँ। मेरे जैसे मनुष्य को प्रत्येक प्रवेश से यहाँ आये हुए परिव्राजकों की सभा में घुसना नहीं चाहिए।'

तब वह उपासक की अवस्था में वापस चला गया और मठ में रहते हुए, एक श्वेत वस्त्र पहनकर, सच्चे धर्म्म की उन्नति और वृद्धि करता रहा। उसकी मृत्यु हुए चालीस वर्ष हुए हैं (सन् ६५१—६५२)।

८ वाक्य-पदीय

इनके अतिरिक्त वाक्य-पदीय है। इसमें ७०० श्लोक हैं, और इसका टीकाभाग ७,००० श्लोकों का है। यह भी भर्तृहरि की ही रचना है। यह पवित्र शिक्षा के प्रमाण-द्वारा समर्थित अनुमान पर, और व्याप्ति-निश्चय की युक्तियों पर, एक प्रबन्ध है।

पाठों से मिलाने के बाद, जापानी संस्करण ने 'धर्म्मपाल' रक्खा है, और एक ही पुस्तक में मिलनेवाले 'धर्म्म के अनेक उपाध्याय' पाठ को छोड़ दिया है। 'धर्मपाल' पाठ के विषय में किसी प्रकार का भी सन्देह नहीं। दुर्भाग्य से म० फूजीसीमा के पास एक बुरी पुस्तक थी, और उसने अनिश्चित रूप से अनुवाद किया है। ऊपर का लेख लिख चुकने के बाद मैंने देखा है कि काश्यप के पाठ में 'शास्त्र का एक उपाध्याय, 'धर्मपाल' है। इससे भी हमारे पाठ धर्मपाल की पुष्टि होती है, और किसी सन्देह की गुञ्जाइश नहीं रह जाती।

९ पेइ-न

इसके अनन्तर पेइ-न (सम्भवतः संस्कृत 'बेड़ा' या 'वेड़ा') * है। † इसमें ३,००० श्लोक हैं, और इसका टीका-भाग १४,००० श्लोकों में है। श्लोक-भाग भर्तृहरि की रचना है, और टीका-भाग शास्त्र के उपाध्याय, धर्म्मपाल, का माना जाता है। यह पुस्तक आकाश और पृथ्वी के गम्भीर रहस्यों की थाह लेती है और इसमें मनुष्य-दर्शन (मूलार्थतः 'मानवी नियमों के तात्त्विक सौन्दर्य') का वर्णन है। जो मनुष्य इस (पुस्तक) तक पढ़ लेता है उसे व्याकरण-शास्त्र का पूर्ण पंडित कहा जाता है। उपर्युक्त सभी पुस्तकों का अध्ययन भिक्षु और उपासक दोनों करते हैं; यदि ऐसा न करें तो वे 'बहुश्रुत' होने की प्रतिष्ठा नहीं पा सकते।

इनके अतिरिक्त भिक्षु लोग सारे विनय-ग्रन्थ पढ़ते और सूत्रों तथा शास्त्रों का निरूपण करते हैं। वे नास्तिकों का विरोध इस प्रकार करते हैं जैसे मैदान के मध्य में पशुओं (मृगों) को भगा रहे हों और विवादों का समाधान इस प्रकार करते हैं जैसे उबलता हुआ पानी पाले को पिघला देता है। इस प्रकार वे सारे जम्बुद्वीप (भारत) में प्रसिद्ध हो जाते हैं, मनुष्यों और देवताओं से बढ़कर उनका सम्मान होता है, बुद्ध की सेवा तथा उसके धर्म्म की वृद्धि करते हुए वे सब लोगों को (निर्वाण तक) पहुँचा देते हैं। प्रत्येक पीढ़ी में ऐसे मनुष्यों में से केवल एक या दो ही

---

* इस नाम की एक पुस्तक, अर्थात् बेड़ा-वृत्ति, डेक्कन कालेज, बम्बई, में श्री० स. क. भण्डारकर की हस्तलेखों की सूची में (1888, p. 146, No. 881) मिलती है; (Aufrecht's Catalogus Catalogorum, p. 198, under gaunmambhodhi (जन्माम्भोधि)।

† यह ग्रन्थ प्रकीर्णक प्रतीत होता है। काशी-संस्करण में हस्तलेखाभाव से यह सारा नहीं छप सका। पूर्वोक्त संस्करण में यह समग्र छपेगा। इस पर काश्मीरी पण्डित हेलाराज की बृहत् टीका है। धर्मपाल की टीका अभी तक नहीं मिली।—भगवद्दत्त।

प्रकट हुआ करते हैं। उनकी उपमा सूर्य और चन्द्र से होती है, या उन्हें नाग और हाथी* की तरह समझा जाता है। पहले समय में नागार्जुन, देव, अश्वघोष; मध्यकाल में बसुबन्धु, असङ्ग, सङ्घभद्र और भवविवेक; और अन्तिम समय में जिन, धर्मपाल, धर्मकीर्ति, शीलभद्र, सिंहचन्द्र, स्थिरमति, गुणमति, प्रज्ञागुप्त ('मतिपाल' नहीं), गुणप्रभ, जिनप्रभ (या 'परमप्रभ') ऐसे मनुष्य थे।

इन महोपाध्यायों में से किसी में उपर्युक्त प्रकार के सद्-गुणों में से किसी एक की भी, चाहे वह सांसारिक हो या धार्मिक, कमी न थी। ये मनुष्य लोभ से रहित होकर, आत्मसन्तोष का अभ्यास करते हुए, अनुपम जी न बिताते थे। ऐसे चरित्र के मनुष्य नास्तिकों अथवा दूसरे लोगों में बहुत कम पाये गये हैं।

[इ-त्सिङ्ग की टीका]—इनके जीवन-चरित, भारत के इस धर्म्मशील मनुष्यों (या भदन्तों) की 'जीवनी' (जिन—जिनप्रभ) में सविस्तर दिये गये हैं।

धर्म्मकीर्ति ने ('जिन' के पश्चात्) हेतुविद्या को और सुधारा; गुण-प्रभ ने विनय-पिटक के अध्ययन को दुबारा लोकप्रिय बनाया; गुणमति ने अपने आपको ध्यान-सम्प्रदाय के अर्पण कर दिया और प्रज्ञागुप्त (मति-पाल नहीं) ने सभी विपक्षी मतों का खंडन करके सच्चे धर्म्म का प्रति-पादन किया। जिस प्रकार अमूल्य रत्न अपने सुन्दर वर्णों का प्रकाश विस्तीर्ण और अथाह सागर में करते हैं, जहाँ केवल ह्वेल मछलियाँ ही रह सकती हैं; और जिस प्रकार औषधीय जड़ी-बूटियाँ अपने सर्वोत्तम गुण अपरिमेय ऊँचाईवाले गन्धमादन पर्वत पर उपस्थित करती हैं, उसी

---

* काश्यप कहता है कि यह 'नाग और हाथी' नहीं, किन्तु यह 'नाग-हाथी' है, क्योंकि सबसे अच्छे प्रकार का हाथी 'नाग' कहलाता है। उसका कथन ठीक जान पड़ता है; ऐसा ही पालि में 'एते नागा महापज्जा (समन्तपासादिका; पृष्ठ ३१३) है।

तरह सब प्रकार के योग्य मनुष्य उन लोगों में पाये जाते हैं जो विशाल और व्यापक बुद्ध-धर्म्म के अनुयायी हैं। चाहे जिस विषय की आवश्यकता हो, ये लोग उसी स्थान पर ग्रन्थ रच सकते थे। ऐसे मनुष्य केवल एक ही बार सुनकर, दो ग्रन्थों* के विषयों को कण्ठस्थ कर सकते थे। तब उन्हें एक पुस्तक को सौ बार पढ़ने का क्या प्रयोजन था?

[इ-त्सिङ्ग की टीका]—एक नास्तिक ने ६०० श्लोक बनाये और उनके साथ वह धर्म्मपाल से विवाद करने लगा; धर्म्मपाल ने अपने विपक्षी के श्लोकों को, सभा के सामने केवल एक बार सुनकर, समझ और याद कर लिया था †।

भारत के पाँचों भागों में ब्राह्मण सर्वत्र सबसे अधिक माननीय (वर्ण) समझे जाते हैं। जब वे एक स्थान में एकत्र होते हैं तब दूसरे तीन वर्णों के साथ नहीं मिलते, और मिश्रित वर्णों के लोगों का मेल-जोल तो उनके साथ और भी कम है। जिन धर्म्म-ग्रन्थों का वे पूजन करते हैं वे वेद हैं, जिनमें कोई १,००,००० मन्त्र हैं; ‡ वेद एक मुख से दूसरे मुख में चले आ रहे हैं। वे कागज या पत्तों पर नहीं लिखे गये §। प्रत्येक पीढ़ी

---

* 'दो ग्रन्थ', सम्भवतः नास्तिक के ६०० श्लोक दो ग्रन्थों में थे। इ-त्सिङ्ग का एक ग्रन्थ से तात्पर्य प्रायः ३०० श्लोक होता है।

† यह कथा ह्यून-थ्सांङ्ग के वृत्तान्त में पूर्ण रूप से दी गई है।

‡ यह जनोक्ति बहुत पुरानी प्रतीत होती है। पुराणों में भी ऐसा ही उल्लेख है। इस समय ऋग्वेद में १०,५८९, यजुर्वेद में १,९७५, सामवेद में लगभग १,८०० और अथर्ववेद में लगभग ६,००० मन्त्र हैं। कुल मिलाकर कोई २०,००० मन्त्र बनते हैं। शतपथब्राह्मण १०।४।२।२३।२४।। में ऋग्, यजु और साममन्त्रों की संख्या २४,००० बृहति छन्द के परिमाण की कही है।—भगवद्दत्त।

§ कम से कम उत्तरीय भारत में अलबेरूनी के काल से कुछ पहले तक यही प्रथा जारी थी। देखो अलबेरूनी—भगवद्दत्त।

में कुछ ऐसे ब्राह्मण रहते हैं जो १,००,००० मन्त्रों को सुना सकते हैं। प्रबल मानसिक शक्ति प्राप्त करने के लिए भारत में दो परम्परागत रीतियाँ हैं। एक तो, बार-बार कण्ठस्थ करने से बुद्धि विकसित हो जाती है; दूसरे, वर्णमाला मनुष्य के विचारों को स्थिर कर देती है। इस रीति से, दस दिन या एक मास के अभ्यास के अनन्तर, विद्यार्थी अनुभव करता है कि उसके विचार झरने के सदृश उठ रहे हैं, और जिस बात को उसने एक बार सुन लिया है उसे वह कण्ठस्थ कर सकता है (उसे दुबारा पूछने की आवश्यकता नहीं रहती)। यह कोई कल्पित कथा नहीं, क्योंकि मैंने स्वयं ऐसे मनुष्य देखे हैं।

पूर्वी भारत में चन्द्र नाम का (मूलार्थतः, 'चन्द्र-अधिकारी', शायद यह 'चन्द्रदास' हो) एक महापुरुष रहता था। वह बोधिसत्त्व के सदृश महामति था। जब मैं, इ-त्सिङ्ग, उस देश में गया था तब वह अभी जीता ही था। एक दिन एक मनुष्य ने उससे पूछा—'कौन-सा अधिक हानिकारक है, प्रलोभन या विष ?' उसने तत्काल उत्तर दिया—'वास्तव में, इन दो में बड़ा भेद है; विष केवल उसी समय हानिकारक होता है जब उसे खा लिया जाय, परन्तु दूसरे के चिन्तन-मात्र से ही मनुष्य की बुद्धि नष्ट हो जाती है'।

काश्यप-मातंग और धर्म्मरक्ष* ने पूर्वी राजधानी लो (होनन-फ़ू) में सुसमाचार का प्रचार किया; परमार्थ† की कीर्ति दक्षिणी सागर (अर्थात् नानकिङ्ग) तक पहुँची थी, और पूजनीय कुमारजीव‡ ने विदेश (चीन)

* ये चीन में पहले दो भारतीय बौद्ध थे; वे चीन में सन् ६७ में आये और उन्होंने अनेक सूत्रों का अनुवाद किया। Nanjio's App. ii, 1 and 2.

† परमार्थ चीन में सन् ५४८ में आया, और उसने इकतीस ग्रन्थों का अनुवाद किया।

‡ कुमारजीव चीन में सन् ४०१ के लगभग आया, और उसने पचास संस्कृतपुस्तकों का चीनी में अनुवाद किया। Nanjio's App. ii 59, 104—105.

के सामने धर्म्मशीलता का आदर्श उपस्थित किया था। पीछे से भदन्त ह्यू‌न-त्साङ्ग स्वदेश में अपना व्यवसाय करता रहा। इस रीति से, भूत और वर्तमान में, आचार्यों ने बुद्ध-धर्म्म की ज्योति (या 'बुद्ध के सूर्य') को दूर-दूर तक फैलाया है।

जो लोग 'भाव' और 'अभाव' के सिद्धान्तों को सीखते हैं उनके लिए स्वयं त्रिपिटक ही उनका गुरु होगा, और जो लोग ध्यान और प्रज्ञा का अभ्यास करते हैं उनके पथदर्शक सात बोधि-अङ्ग* होंगे।

पश्चिम में इस समय रहनेवाले (सबसे विख्यात) आचार्य ये हैं;—ज्ञानचन्द्र, जो धर्म्म का एक गुरु है, (मगध में) तिलढ† विहार में रहता है; नालन्द विहार में रत्नसिंह; पूर्वी भारत में दिवाकर मित्र‡; और अति दक्षिणी प्रान्त में, तथागतगर्भ रहता है। दक्षिणी सागर के श्रीभोज में

---

* बोधि के सात अंग, अर्थात् स्मरण, निरूपण, उत्साह, हर्ष, प्रशान्ति, चिन्तन और समचित्तता। देखो Childers, S. V. बोज्झंगों; Burnouf कमल, ७९६; Kasawara, धर्मसंग्रह, ४९; महाव्युत्पत्ति ३९.

† तिलढ विहार ह्यु‌नत्साङ्ग का तिलढक है (Julien, Memoires, viii, 440, and Vie, iv, 211)। इ-त्सिङ्ग इस विहार को अपने वृत्तान्त में नालन्द से दो योजन की दूरी पर लिखता है (देखो Chavannes, p. 146, note)। आधुनिक तिल्लार, नालन्द के पश्चिम मे। Cf. Cunningham, Ancient Geography of India, i, 456.

‡ हर्षचरित, (कश्मीरसंस्करण, पृ० ४८८ तथा ४९७) में एक दिवाकर मित्र का बौद्ध भदन्त के रूप में उल्लेख है। म० फ़ुजिसीमा भूल से शक्रमित्र लिखता है। देखो जूलियन, (Methode pour Dechiffrer les Noms Sanscrits, p. 70.)

शाक्यकीर्ति निवास करता है, जिसने शिक्षा-प्राप्ति के लिए भारत के पाँचों देशों की यात्रा की थी और इस समय श्रीभोज (सुमात्रा) में है।

ये सब लोग अपने उज्ज्वल चरित्र के लिए समान रूप से प्रसिद्ध हैं, प्राचीनों के बराबर हैं और ऋषियों के चरण-चिह्नों का अनुसरण करने के लिए उत्सुक हैं। जब वे हेतुविद्या की युक्तियाँ समझ लेते हैं तब जिन (हेतुविद्या का बड़ा सुधारक) के सदृश बनने की आकांक्षा करते हैं; योगाचार्य के सिद्धान्त को चखते हुए वे उत्साहपूर्वक असङ्ग-वाद का अनुसन्धान करते हैं।

जब वे 'नास्ति' पर संधाव करते हैं तब चतुराई से नागार्जुन का अनुकरण करते हैं; जब 'अस्ति' का वर्णन करने लगते हैं तब सङ्घभद्र की शिक्षा की सम्पूर्ण रूप से थाह लेते हैं। मैं, इ-त्सिङ्ग, इन आचार्यों के साथ ऐसी घनिष्ठता से वार्तालाप किया करता था कि उनसे व्यक्तिगत रूप से अमूल्य उपदेश प्राप्त कर सकता था (शब्दार्थ, मैं उनके आसनों और लिखने के फलकों के निकट गया और उनके प्रशंसनीय शब्दों को ग्रहण किया और उनसे हर्षित हुआ)।

मुझे सदा इस बात से बड़ी प्रसन्नता होती है कि मुझे व्यक्तिगत रूप से उनसे ज्ञान प्राप्त करने का अवसर मिला था जो अन्यथा मैं कभी प्राप्त न कर सकता, और मै पुरानी टीकाओं का नवीनों के साथ मिलान करके अपने पिछले अध्ययन की स्मृति को ताजा कर सकता था।

मेरी एक मात्र कामना यह है कि मैं उस प्रकाश को पाऊँ जो एक काल से दूसरे काल को मिलता रहा है। मुझे सन्तोष इसी बात में है कि मैंने (प्रातःकाल) धर्म्म सीख लिया हूं, और मेरी इच्छा धूल की भाँति उठनेवाले सैकड़ों सन्देहों को मिटा देने की है, और (यदि मेरी इच्छा सबेरे पूरी हो जाय तो) सायंकाल को मर जाने से मुझे कोई खेद नहीं होगा।

गृध्रकूट पर पीछे पड़े रह जानेवाले थोड़े-से रत्नों को अब तक भी बटोरते हुए, मैंने कुछ अत्युत्तम रत्न पाये हैं; भागनदी (=अजिरवती) में सौंपी हुई मणियों की खोज करते हुए मुझे कुछ अत्युत्कृष्ट मणियाँ मिली

हैं। रत्नत्रय की अदृष्ट सहायता और राजकृपा के दूर तक पहुँचनेवाले प्रभाव से मैं अपनी यात्रा-रूपी धारा को पूर्व की ओर मोड़ने में समर्थ हुआ, और ताम्रलिप्ति* से पोत पर सवार होकर श्री भोज में आ पहुँचा।

यहाँ आये मुझे चार से अधिक वर्ष हो चुके हैं। यहाँ मैं विविध रीतियों से अपने समय को काम में लगा रहा हूँ, और मैंने अभी इस स्थान को छोड़कर स्वदेश जाने का निश्चय नहीं किया।

[३२]

केशों के विषय में नियम

भारत के पाँचों खंडों में सर्वत्र बिना सिर मुंड़ाये कोई भी मनुष्य सारी अन्तिम प्रतिज्ञायें (मूलार्थतः 'पूर्ण शील') नहीं ले सकता, न विनय में इसके लिए कोई उदाहरण है और न पुराने समय में कभी कोई ऐसी रीति ही थी। क्योंकि यदि भिक्षु भी साधारण उपासक जैसे ही स्वभाव रखता है तो वह दोषों से बच नहीं सकता। यदि मनुष्य शीलों पर चल नहीं सकता तो उसका उनपर चलने की प्रतिज्ञा लेना व्यर्थ है।

इसलिए यदि मनुष्य का मन भिक्षु होने पर लगा हो तो उसे चाहिए कि सिर मुंड़ने के लिए कहे, रँगा हुआ चोला पहने, अपने विचारों को पवित्र करे और मोक्ष को अपना लक्ष्य बनाये। उसे पाँच और फिर दस शीलों का पालन करने में न चूकना चाहिए। जिसने सभी शीलों का पालन करने की प्रतिज्ञा शुद्ध अन्तःकरण से की है उसे विनय-पुस्तकों के अनुसार उनका अनुष्ठान करना चाहिए।

[इ-त्सिङ्ग की टीका]—आठ शास्त्र ये हैं—

१. विद्यामात्र विंशति (-गाथा)-शास्त्र या विद्यामात्रसिद्धि (वसुबन्धु-कृत)।

---

* हुगली के मुहाने के निकट, पूर्वी भारत में एक प्राचीन व्यापारिक बन्दर।

२. विद्यामात्रसिद्धि-त्रिदशशास्त्र-कारिका (वसुबन्धु-कृत)।

३. महायानसम्परिग्रह-शास्त्रमूल (असङ्ग-कृत)।

४. अभिधर्म (-सङ्गीत)-शास्त्र (असङ्ग-कृत)।

५. मध्यान्तविभाग-शास्त्र (वसुबन्धु-कृत)।

६. निदान-शास्त्र (उल्लङ्ग-कृत)।

७. सूत्रालङ्कार-टीका (असङ्ग-कृत)।

८. कर्मसिद्ध-शास्त्र (वसुबन्धु-कृत)।

यद्यपि उपर्युक्त शास्त्रों में वसुबन्धु के कुछ ग्रन्थ हैं, परन्तु (योग-पद्धति में) सफलता असङ्ग की मानी जाती है (इसलिए असङ्ग के ग्रन्थों में वसुबन्धु की पुस्तकों का समावेश है)।

जो भिक्षु हेतुविद्या में अपने आपको विख्यात करना चाहता है उसे 'जिन' के आठ शास्त्रों को सम्पूर्ण रूप से समझ लेना चाहिए।

वे ये हैं—

१. तीन लोकों के ध्यान का शास्त्र (मिला नहीं)।

२. सर्वलक्षणध्यान-शास्त्र (कारिका) (जिन-कृत)।

३. विषय के ध्यान का शास्त्र (जिन-कृत)। सम्भवतः आलम्बन-प्रत्यय ध्यान-शास्त्र (नञ्जियो की नामावली, सं० ११७३)।

४. हेतुद्वार पर शास्त्र (नहीं मिला)।

५. हेत्वाभासद्वार पर शास्त्र (नहीं मिला)।

६. न्यायद्वार (तारक)-शास्त्र (नागार्जुन-कृत)।

७. प्रज्ञप्ति-हेतु-संग्रह (?) शास्त्र (जिन-कृत)।

८. एकीकृत अनुमानों पर शास्त्र (नहीं मिला)।

अभिधर्म का अध्ययन करते समय उसे छः पादों* का सम्पूर्ण पाठ करना

---

* अभिधर्म पर ये छः निबंध हैं, और इन सबका सम्बन्ध सर्वास्तिवादनिकाय से है, संख्या १२७६, १२७७, १२८१, १२८२ १२९६ और १३१७.

चाहिए और आगमों* को सीखते समय चार निकायों के सिद्धान्तों का अखंड रूप से निरूपण करना चाहिए। इन सब पर अधिकार हो जाने के पश्चात्, भिक्षु नास्तिकों और विवाद करनेवालों का सफलतापूर्वक मुक़ाबिला कर सकता और धर्म्म की सचाइयों की व्याख्या करके सबको बचाने में समर्थ हो जाता है। वह दूसरों को ऐसे उत्साह के साथ शिक्षा देता है कि उसे थकावट मालूम ही नहीं होती। वह अपने मन में 'दुहरे शून्य' के चिन्तन का अभ्यास करता है। वह 'आठ श्रेष्ठ मार्गों'-द्वारा अपने हृदय को शान्त करता है, सावधानी से 'चार ध्यानों' में लग जाता है और सात स्कन्धों† के नियमों का ठीक-ठीक पालन करता है।

---

* आगम (त्रिपिटक का एक विभाग) ये हैं—

(१) दीर्घागम (३० सूत्र, तुलना कीजिए दीर्घनिकाय, ३४ सुत्त)।

(२) मध्यमागम (२२२ सूत्र, तुलना कीजिए, मज्झिमनिकाय, १५२ सुत्त)।

(३) सम्युक्तागम (सम्युत्तनिकाय, ७७६० सुत्तन्त)।

(४) एकोत्तरागम (अंगुत्तरनिकाय, ९५५७ सुत्तन्त)।

पालि में पाँच निकाय हैं, पाँचवाँ खुद्दकनिकाय (१५ भाग) है।

† सात स्कन्धों में भिक्षुओं से सम्बन्ध रखनेवाले विशेष अपराध हैं—

(१) पाराजिक पाप वह है जिसके लिए भिक्षु को निकाल दिया जाता है।

(२) संघाविशेष अपराधों की संख्या तेरह है। इनके लिए रोक और पश्चात्ताप की आवश्यकता होती है, परन्तु निकाल देने की नहीं।

(३) स्थूलात्याय एक घोर अपराध (थुल्लच्चय) है।

(४) प्रायश्चित्तिक अपराधों की संख्या बानबे है, और उनके लिए अंगीकार और क्षमा (पाचित्तिय) का प्रयोजन है।

(५) नैसर्गिक संख्या में तीस हैं। वे प्रायश्चित्तिक पाप हैं, जिनके साथ ज़ब्ती (निस्सग्गिय) भी है।

जो लोग इस प्रकार जीवन व्यतीत करते हैं वे उच्च कोटि के हैं।

कुछ लोग ऐसे हैं जो यद्यपि उपर्युक्त महात्माओं की तरह आचरण नहीं कर सकते, पर घर के कामों में बहुत बँधे हुए नहीं। उनका जीवन सरल तथा निष्कपट है, और वे सांसारिक चिन्ताओं को छोड़ देने की इच्छा रखते हैं। यदि उनसे कोई चीज माँगी जाय तो वे पात्र को दे देते हैं।

वे बहुत सादा वस्त्र रखते हैं, और केवल शिष्टता का ध्यान रखते हैं। वे आठ उपदेशों (शील) का दृढ़ता से पालन करते और आयु-पर्यन्त उद्यमशील बने रहते हैं।

आठ उपदेश ये हैं—(१) हत्या न करना, (२) चोरी न करना, (३) व्यभिचार न करना, (४) झूठ न बोलना, (५) मदिरा न पीना, (६) न सङ्गीत से प्रसन्न होना, न हार पहनना और न सुगन्धित पदार्थों से अभिषेक करना, (७) ऊँचे और चौड़े पलँग का उपयोग न करना, (८) निषिद्ध समयों में भोजन न करना।

वे तीन पूज्यों (अर्थात् तीन रत्नों) में विश्वास रखते और उनका सम्मान करते हैं और अपने आपको निर्वाण-प्राप्ति में लौलीन करके (या निर्वाण को लक्ष्य बनाकर) अपने विचारों को उसी पर एकाग्र कर देते हैं।

इन व्यक्तियों की पदवी क्रम में (उच्च श्रेणियों से) दूसरी है।

ऐसे लोग भी हैं जो, (सांसारिक कार्यों की) सीमाओं में रहते हुए, अपनी स्त्रियों का भरण-पोषण तथा बच्चों का पालन और शिक्षण करते हैं। वे अपने श्रेष्ठ लोगों की सम्मानपूर्वक पूजा और अपने से नीच लोगों पर दया करते हैं।

वे पाँच उपदेशों को ग्रहण और उनका पालन करते हैं और सदा उपवास के चार दिन (उपवसथ) मनाते हैं।

---

(६) दुष्कृत (दुक्कत)।

(७) दुर्भाषित (दुब्भासित)।

देखो आपत्तिखण्डो, चाइल्डर का पालि अभिधान, चुल्लवग्ग ९, ३, ३.

उपवास के चार दिन ये हैं—

(क) कृष्ण पक्ष में, अष्टमी और चतुर्दशी या दशमी और अमावस्या। (ख) शुक्ल पक्ष में, अष्टमी और पूर्णिमा।

इन दिनों में मनुष्य को आठ उपदेश लेने चाहिए। यह क्रिया 'पवित्र अनुष्ठान' कहलाती है। यदि मनुष्य बाक़ी सात को छोड़कर केवल आठवाँ उपदेश ('निर्दिष्ट समय के सिवा भोजन न करना') ही लेता है तो उसे बहुत थोड़ा पुण्य (मूलार्थतः 'सुख का हेतु') मिलता है। आठवें उपदेश का प्रयोजन दूसरे सात उपदेशों के उल्लंघन से बचना है, न कि व्यर्थ में पेट को भूखा रखना।

वे दूसरों के प्रति सहानुभूति का बर्ताव करते और अपने आपको सावधानी से संयम में रखते हैं। वे कोई निर्दोष व्यवसाय करते हैं और अधिकारियों को कर देते हैं। ऐसे लोग भी अच्छे मनुष्य समझे जाते हैं।

निर्दोष व्यवसाय से अभिप्राय वाणिज्य से है, क्योंकि इससे जीवों की हानि नहीं होती। इस समय भारत में वणिकों को किसानों से अधिक सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है; इसका कारण यह है कि कृषि से अनेक कृमियों के प्राणों की हानि होती है। रेशम के कीड़े पालने या पशु-वध करने से मनुष्य को भारी पाप लगता है।

वर्ष भर में करोड़ों जीवों की हानि होगी। ऐसे व्यापार को चिर-काल तक करते रहने से, चाहे वह दोषयुक्त न समझकर ही किया जाता रहा हो, मनुष्य को अगले जन्मों में असंख्य रीतियों से इसका प्रतिफल भोगना पड़ेगा। जो ऐसा व्यवसाय नहीं करता वह 'निर्दोष' कहलाता है।

परन्तु कुछ दुर्मति लोग ऐसे हैं जो, पशुवत् जीवन व्यतीत करते हुए, तीन शरणों (अर्थात् बुद्ध की शरण, धर्म्म की शरण और संघ की शरण) को नहीं जानते और अपने जीवन में एक भी उपदेश का पालन नहीं करते। ये लोग, जिनको यह ज्ञात नहीं कि निर्वाण पूर्ण शान्ति की अवस्था है, कैसे जान सकते हैं कि उनके अगले जन्म चक्र की भाँति घूमेंगे ?

इस भ्रम में पड़े हुए वे पाप पर पाप करते चले जाते हैं। ये लोग सबसे नीच श्रेणी के हैं।

[३३]

मृत्यु के पश्चात् कार्यों का प्रबन्ध

मृत भिक्षु के कार्यों के प्रबन्ध की रीति का विनय में पूर्ण रूप से वर्णन है। मैं यहाँ संक्षेप से बहुत आवश्यक बातें देता हूँ। सबसे पहले इस बात का पता लेना चाहिए कि कोई ऋण तो नहीं; मृत व्यक्ति कोई मृत पत्र तो नहीं छोड़ गया और रुग्णावस्था में कौन उसकी सेवा करता रहा है। यदि ऐसी अवस्था हो तो सम्पत्ति का बँटवारा राजनियम के अनुसार होना चाहिए। जो सम्पत्ति बच जाय उसे उचित रूप से बाँट देना चाहिए।

उदान (त्रिपिटक का एक भाग) का एक श्लोक है—

'भूमि, घर, दूकानें, बिछौने की सामग्री,
ताँबा, लोहा, चमड़ा, उस्तरे, बर्तन,
कपड़े, छड़ियाँ, पशु, पेय पदार्थ, भोजन,
ओषधि, पलँग, तीन प्रकार की—
बहुमूल्य वस्तुएँ, सोना, चाँदी, इत्यादि,
विविध वस्तुएँ—बनी हुई या बिना बनी हुई;
इनको, इनके गुणों के अनुसार, विभाज्य
अथवा अविभाज्य ठहराना चाहिए।
जगति-पूज्य बुद्ध ने यह विधान किया था।'

इसका विशेष वर्णन इस प्रकार है—भूमि, घर, दूकानें, बिछाने की सामग्री, ऊनी आसन और लोहे या ताँबे के उपकरण बाँटे नहीं जा सकते। परन्तु शेषोक्त में से बड़े और छोटे लोहे के कटोरे, ताँबे के छोटे कटोरे, दरवाजों की चाभियाँ, सूइयाँ, बरमे, उस्तरे, चाकू, लोहे की डोइयाँ, काँसे की चीजें, कुल्हाड़े, छेनियाँ इत्यादि और साथ ही उनकी थैलियाँ; मिट्टी

के बर्तन अर्थात् प्याले-प्यालियाँ, पीने और साफ़ करने के पानी के लिए कुण्डिक, तेल के घड़े और पानी के बासन बाँटे जा सकते हैं; बाक़ी नहीं। लकड़ी और बाँस के उपकरण, चमड़े के बिछौने, क्षौर की सामग्री; दास और दासियाँ; मदिरा, भोजन, अनाज; भूमि और घर, ये सब प्रत्येक प्रान्त से आकर एकत्र होनेवाले भिक्षुओं की सम्पत्ति बना देनी चाहिए। इनमें से जंगम वस्तुएँ संघ के उपयोग के लिए कोषागार में रक्खी जानी चाहिए। भूमि, घर, ग्राम्य-वाटिकायें, भवन—जो स्थावर हैं—भी संघ की ही सम्पत्ति हो जाते हैं। यदि वस्त्र या कोई अन्य पहनने योग्य वस्तुएँ रह जायें, चाहे वे चोले हों, रँगी हुई या बिना रँगी स्नान करने की कमीजें हों, या मोमजामे हों, बटलोइयाँ, स्लीपर या जूते, ये सब उसी स्थान पर उस समय एकत्रित भिक्षुओं में बाँट देने चाहिए। जिस कपड़े में बाँहों का एक जोड़ा हो वह बाँटा नहीं जा सकता, किन्तु सफ़ेद वस्त्र जो दुहरा बनाया जाता है, अपनी इच्छानुसार बाँटा जा सकता है।

बुद्ध की जाम्बूनदवर्ण मूर्त्ति के सामने लम्बी-लम्बी छड़ियों का झंडों के रूप में उपयोग किया जाता है। पतली छड़ियाँ भिक्षुओं को दे दी जाती हैं ताकि वे उन्हें धातु की छड़ियों के रूप में व्यवहार करें।

[इ-त्सिङ्ग की टीका]—'जाम्बूनदवर्ण' नामक प्रतिमा की उत्पत्ति का वर्णन विनय में है। जब बुद्ध संघ में नहीं होते थे तब भिक्षु लोग बहुत विनीत नहीं रहते थे; इस अवस्था से विवश होकर धनाढ्य अनाथ-पिण्डद ने बुद्ध से इस प्रकार पूछा—'मैं, संघ के सम्मुख रखने के लिए, तेरी जाम्बूनदवर्ण (सोने के रंग की) प्रतिमा बनाना चाहता हूँ।' गुरुवर ने यह प्रतिमा बनाने की आज्ञा उसे दे दी।

धातु की छड़ी संस्कृत में 'खक्खर'* कहलाती है, और (छड़ी लेकर

---

* यह नाम यद्यपि ठीक संस्कृत नहीं, पर ऐसा जान पड़ता है कि इसका व्यवहार बौद्धों की छड़ी के लिए होता था। देखिए महाव्युत्पत्ति, २६८; ब्रूनध्साङ्ग, ii, 509. तुलना कीजिए, 'कत्तर-दण्ड', महावग्ग ५, ६, २; चुल्लवग्ग ८, ६, ३, और जातक १, ९.

चलने से उत्पन्न होनेवाले) शब्द को दिखलाती है । पुराने अनुवादक ने इसका अनुवाद 'धातु की छड़ी' किया है, क्योंकि शब्द धातु से उत्पन्न होता है; आप चाहें तो इसे 'छड़ी की धातु' कह सकते हैं । जैसा कि मैंने स्वयं देखा है, पश्चिम (भारत) में जिस छड़ी का व्यवहार किया जाता है उसकी चोटी पर लोहे का एक चक्र जड़ा होता है; चक्र का व्यास दो-तीन इंच होता है, और इसके मध्य में चार-पाँच अंगुल लम्बा नली के आकार का धातु का एक सिरा होता है । स्वयं लाठी, साफ़ या खुरदरी लकड़ी की बनी होती है । इसकी लम्बाई मनुष्य की भृकुटी तक पहुँचती है । चोटी के चक्र से कोई दो इंच नीचे लोहे की एक जंजीर बाँधी जाती है, जिसके छल्ले गोल या अण्डाकार होते हैं और एक तार को झुकाकर और इसके सिरों को एक-दूसरे छल्ले में जोड़कर बनाये जाते हैं । प्रत्येक छल्ला इतना बड़ा बनाया जाता है कि जिसमें से तुम अपना अँगूठा डाल सको । ऐसी छः या आठ जंजीरें चोटी के चक्र में से बाँधी जाती हैं । ये जंजीरें लोहे या ताँबे की होती हैं । ऐसी लाठी रखने का प्रयोजन गाँव में भिक्षा लेते समय गायों या कुत्तों को दूर रखना है । यह आवश्यक नहीं कि इसको इस प्रकार उठाने का विचार किया जाय कि जिससे बाँहें थक जायें । इसके अतिरिक्त, कुछ लोग मूर्खता से सारी लाठी लोहे की ही बनाते और उसकी चोटी पर लोहे के चार चक्र लगा देते हैं । यह बहुत भारी होती है और एक साधारण व्यक्ति के लिए इसे उठाये फिरना कठिन होता है । यह मूल-नियमों के अनुरूप नहीं ।

चतुष्पाद, हाथी, घोड़े, खच्चर, सवारी के गधे 'राजपरिवार' को दे दिये जाते हैं । साँड़ और भेड़ें बाँटी नहीं जानी चाहिए, किन्तु वे सारे समाज की होती हैं । टोप, कवच, इत्यादि वस्तुएँ भी राजपरिवार में भेज देनी चाहिए । सूइयों, बरमों, चाक़ुओं या धातु की लाठियों के सिरों को दे देने के बाद फुटकर शस्त्र उस समय एकत्रित भिक्षुओं में बाँट दिये जाते हैं । यदि वे सबके लिए पर्याप्त न हों तो केवल बड़े भिक्षु ही उन्हें ले लें ।

जाल जैसी वस्तुओं की खिड़कियों के लिए जालियाँ बना ली जातीं,

हैं। अच्छे प्रकार के रंग, जैसे कि पीला, सिंदूरी, आसमानी, नीला, हरा, मूर्तियों और इर्द-गिर्द के अलङ्कारों को रँगने के लिए मन्दिर में भेज दिये जाते हैं।

श्वेत और लाल मिट्टी और घटिया नीले पदार्थ एकत्रित भिक्षुओं में बाँट दिये जाते हैं। द्राक्षमदिरा यदि खट्टी होने के निकट हो तो भूमि में गाड़ दी जाती है, और इसके सिरका बन जाने पर भिक्षु इसका उपयोग कर सकते हैं। परन्तु यदि यह मीठी ही बनी रहे तो इसे फेंक देना चाहिए, किन्तु इसे बेचा न जाय। क्योंकि बुद्ध ने कहा है—'तुम भिक्षु लोगो, जिन्होंने मुझसे दीक्षा पाई है, न तो किसी दूसरे को मदिरा दो और न आप ही इसका सेवन करो। अपने मुख में इतनी थोड़ी भी मदिरा न डालो जितनी कि नरकट के सिरे से गिरी हुई एक बूँद होती है।' यदि मनुष्य मदिरा के साथ मिलाकर आटा, मदिरा के तलछट से बना हुआ जूस खाता है तो वह अपराध करता है। इस विषय में मनुष्य को संदेह में नहीं रहना चाहिए, क्योंकि विनय में इसके निषेध के लिए एक नियम है।

औषधीय पदार्थ, प्रयोजन के समय रोगियों को देने के लिए, एक पवित्र भण्डार में रक्खे जाने चाहिए। बहुमूल्य पत्थर, रत्न और ऐसी ही दूसरी वस्तुएँ दो भागों में विभक्त की जाती हैं, एक तो धार्मिक प्रयोजनों (धम्मिक) के अर्पण होता है और दूसरा भिक्षुओं के अपने उपयोग के लिए (सङ्घिक) रहता है। प्रथमोक्त भाग धर्म्म-पुस्तकों के नक़ल कराने और 'सिंहासन' के निर्माण या सजावट में खर्च होता है। दूसरा भाग उपस्थित भिक्षुओं में बाँट दिया जाता है। ऐसी वस्तुएँ, जैसे कि रत्न-जड़ित कुरसियाँ, बेच देनी चाहिएँ और उनका मूल्य उपस्थित जनों को दे दिया जाय।

लकड़ी की कुरसियाँ साझे की सम्पत्ति बना दी जाती हैं। परन्तु धर्म्म-पुस्तकें तथा उनकी टीकायें किसी को नहीं देनी चाहिए, किन्तु उन्हें

सम्प्रदाय* के लोगों के पाठ के लिए एक पुस्तकालय में रख देना चाहिए। जो पुस्तकें बौद्ध-धर्म्म की न हों उन्हें बेच डाला जाय, और (उनसे प्राप्त हुआ धन) उस समय निवास करनेवाले भिक्षुओं में बाँट दिया जाय। यदि लेखपत्र और ठेके तत्काल देय हों तो (रुपया) वसूल करके झटपट बाँट देना चाहिए; यदि वे तत्काल देय न हों तो लेखपत्र कोष में रख छोड़ने चाहिए, और जब उनकी अवधि पूरी हो जाय, तब (रुपया) सङ्घ के उपयोग के अर्पण कर दिया जाय। सोना, चाँदी, गढ़ा हुआ तथा बिना गढ़ा हुआ माल, कौड़ियाँ (कपर्द) और मुद्रायें, बुद्ध, धर्म्म तथा सङ्घ के लिए, तीन भागों में बाँट दी जाती हैं। बुद्ध का भाग मन्दिरों, उन स्तूपों—जिनमें पवित्र बाल या नाख़ून रक्खे हुए हैं—और अन्य खँडहरों के जीर्णोद्धार में व्यय किया जाता है।

धर्म्म का भाग धर्म्म-पुस्तकों की नक़ल कराने और 'सिंहासन' के निर्माण तथा सजावट में लगाया जाता है। दूसरा सङ्घ का भाग मठ में रहनेवाले भिक्षुओं में बाँट दिया जाता है।

भिक्षु के छः परिष्कार† रोगी धात्री को दिये जाते हैं। बाक़ी की टूटी हुई चीज़ें उचित रूप से बाँट दी जायँ।

इस विषय का सम्पूर्ण वर्णन बड़ी विनय में मिलता है।

[३४]

सङ्घ की साधारण सम्पत्ति का उपयोग

सभी भारतीय विहारों में भिक्षु को कपड़े मठ में रहनेवाले भिक्षुओं (के साझे की पूँजी) से दिये जाते हैं। खेतों और उद्यानों की उपज

---

* तुलना कीजिए चतुर्दिक्संघ।

† देखो परिच्छेद १०,

और वृक्षों तथा फलों से होनेवाली आय, कपड़ों का व्यय पूरा करने के लिए प्रतिवर्ष भागों में बाँट दी जाती है।

भारतीय विहारों को भूमि की विशेष जागीरें मिली हुई हैं, जिनकी आय से भिक्षुओं को वस्त्र दिये जाते हैं। कुछ चीनी मन्दिरों में भी ऐसी ही अवस्था है। खेत देनेवाले के मूल संकल्प के कारण विहार में (रहनेवाला) कोई भी व्यक्ति—चाहे वह भिक्षु हो या साधारण भक्त—उसी स्रोत से दान ले सकता है। परन्तु यदि वह भोजन नहीं करता तो यह किसी का दोष न होगा। यह माना गया है कि सम्प्रदाय को जो दान मिलता है—चाहे वह खेत हो चाहे घर, या कोई क्षुद्र वस्तु,—वह भिक्षुओं के भोजन और आच्छादन के लिए दिया जाता है। इस विषय में कुछ भी संदेह नहीं। यदि उपकारी का वास्तविक संकल्प निष्कपट रूप से उदार था, तो दान के लाभ सबके लिए समझे जा सकते हैं, चाहे यह केवल देव-मंदिर को ही भेंट दिया गया हो।

इसलिए सम्प्रदाय, जब तक वह दाता के वास्तविक संकल्प को पूरा करता है, बिना किसी दोष के, जैसा चाहे दानों का उपयोग कर सकता है।

परन्तु चीन में, कोई व्यक्ति प्रायः विहार की सम्पत्ति से वस्त्र नहीं ले सकता, इसलिए उसे इस आवश्यकता के लिए पहले से उपाय करना पड़ता है, जिससे वह अपने विशेष कार्यों को भुला देता है। यह नहीं कि जिसको भोजन और कपड़ा मिल जाता है वह बिना किसी शारीरिक या मानसिक श्रम के जीवन व्यतीत करता है, किन्तु यह एक सच्ची बात है कि यदि मनुष्य केवल ध्यान और उपासना में लगा हुआ विहार में रहे तो वस्त्र और भोजन की चिन्ता का कुछ भी प्रयोजन न होने से वह बहुत स्वतंत्र हो सकता है।

जिसके पास पांसु (धूल के ढेर) के (चिथड़ों से बनाये हुए) तीन चीवरों के सिवा और कुछ नहीं, जो द्वार-द्वार से भोजन की भिक्षा करता और अरण्य में वृक्षों के नीचे रहता है, वह यति का पवित्र जीवन व्यतीत

करता है*। मोक्ष-मार्ग पर मनुष्य का लक्ष्य जितना अधिक दृढ़तापूर्वक स्थिर होता है उतना ही उसका आन्तरिक ध्यान और ज्ञान बढ़ता है। बाहर से प्रेम और दया दिखलाने से मनुष्य का मन मुक्ति-घाट की ओर जाता है। जो जीवन इस रीति से समाप्त होता है वह सर्वोच्च है। भिक्षुओं के चीवर विहार में रहनेवाले भिक्षुओं की साझे की सम्पत्ति में से दिये जाने चाहिए, और प्रत्येक वस्तु---जैसे कि बिछौने के कपड़े, इत्यादि---समान रूप से बाँटी जानी चाहिए और किसी एक ही व्यक्ति को नहीं दी जानी चाहिए; इस प्रकार उन्हें विहार की सम्पत्ति की रक्षा अपनी निज की सम्पत्ति से भी अधिक सावधानी से करनी चाहिए। यदि अनेक दान हों तो विहार को चाहिए कि बड़े को पुण्यार्थ दे के छोटे को रख ले। यह बुद्ध की श्रेष्ठ शिक्षा के अनुकूल है, क्योंकि उसने स्पष्ट कहा है---'यदि तुम वस्तुओं का यथोचित रीति से उपयोग करोगे तो तुममें कोई दोष न मिलेगा। तुम यथेष्ट रूप से अपना निर्वाह कर सकोगे और श्रम-पूर्वक आजीविका की तलाश करने के कष्ट तथा व्यय से मुक्त हो जाओगे'।

विहार के लिए बहुत-सा धन, सड़े हुए अनाज से भरे हुए खाते, अनेक दास और दासियाँ, कोषागार में इकट्ठा किया हुआ रुपया और खज़ाना रखना, और इनमें से किसी भी चीज़ का उपयोग न करना, जब कि सारे सदस्य निर्धनता से दुःख पा रहे हों, अनुचित है। बुद्धिमानों को सदा सत्यासत्य का ठीक निर्णय करके उसके अनुसार आचरण करना चाहिए।

कुछ विहार ऐसे हैं जो वहाँ रहनेवालों को भोजन नहीं देते, किन्तु, प्रत्येक वस्तु उनमें बाँट देते हैं और उन्हें अपने भोजन के लिए स्वयं उपाय करना पड़ता है। ऐसे विहार किसी परदेसी को वहाँ निवास करने

---

* पुराने बौद्धों का ऐसा जीवन अभी इ-त्सिङ्ग के समय में भी मौजूद था।

की आज्ञा नहीं देते। इस प्रकार जो लोग किसी प्रदेश से आते हैं उन्हें ये विहार स्वयं अधर्म्म-संगत जीवन बिताने का प्रलोभन देते हैं ('या ऐसे विहार के अधिकारी उन सब भिक्षुओं के जीवन की अधर्म्म-संगत रीति के लिए उत्तरदाता होंगे जो उनके संसर्ग में आते हैं') । जो लोग ऐसा अधर्म्म-संगत आचरण कराते हैं उन्हें इसका कुफल अवश्य मिलेगा, और उनके सिवा किसी दूसरे को भावी परिणाम न भोगने पड़ेंगे।

[३५]
शरीर का जलाना अधर्म्मसंगत है

बुद्ध-भिक्षुओं के लिए अध्ययन की केवल एक ही पद्धति है। जिन लोगों ने अभी अध्ययन आरम्भ ही किया है वे विक्रान्त और विश्रुत बनने पर तत्पर हैं, पर अपने धर्म्म-ग्रन्थों का उन्हें कुछ ज्ञान नहीं। वे उन लोगों का अनुसरण करते हैं जो उँगलियों को जला देना धर्म्मनिष्ठा का काम और आग से अपने शरीर को नष्ट कर डालना प्रशंसा का कर्म समझते थे। वे ऐसे कामों को अपने हृदय में ठीक समझते हुए अपनी ही प्रवृत्ति पर चलते हैं। यह सच है कि सूत्रों में ऐसे कर्मों के कुछ उल्लेख हैं, परन्तु वे भक्तजनों के लिए हैं, क्योंकि आवश्यकता पड़ने पर उनके लिए न केवल अपने कोष, वरन् अपना जीवन दे देना भी ठीक है। इस प्रकार इसका संकेत स्वयं भिक्षुओं की ओर नहीं। क्यों? प्रव्रजितों को अपने आपको दृढ़तापूर्वक विनय के नियमों की सीमा में ही रखना चाहिए। यदि वे उनके उल्लंघन का अपराध नहीं करते तो उनका आचरण सूत्रों के अनुकूल है। यदि वे किसी उपदेश का उल्लंघन करते हैं तो उनकी आज्ञानुवर्तिता में दोष है।

भिक्षु होने के कारण उन्हें घास का एक तिनका भी नष्ट न करना चाहिए, चाहे सारा मंदिर घास से ढका हुआ हो। चाहे वे किसी एकाकी खेत में भूख से मर रहे हों, उन्हें चावल का एक दाना भी न चुराना चाहिए।

परन्तु सर्वसत्वप्रियदर्शन* के ऐसे भक्तजन के लिए अपनी बाँह को भी भून-कर भोजन देना ठीक है। बोधिसत्त्व ने अपने लड़कों और लड़कियों तक का दान कर दिया था, परन्तु भिक्षु को देने के लिए लड़का और लड़की ढूंढ़ने का प्रयोजन नहीं। महासत्त्व ने अपने नेत्र तथा शरीर दे दिया था, परन्तु भिक्षु को ऐसा करने का प्रयोजन नहीं। हिस्एनयू (ऋषि-नन्दित) ने अपना जीवन सौंप दिया था, परन्तु यह कोई ऐसा उदाहरण नहीं जिसका अनुकरण विनय के विद्यार्थी के लिए अच्छा हो।

राजा मैत्रीबल ने अपनी बलि दे दी थी, परन्तु भिक्षु को उसके उदाहरण का अनुकरण नहीं करना चाहिए। मैंने अभी सुना है कि (चीन या भारत के, सम्भवतः चीन के) युवक अपने आपको वीरतापूर्वक धर्म्म-अनुष्ठान के अर्पण करते हुए, शरीर जला देने को बुद्धत्व प्राप्त करने का एक साधन समझते हैं, और एक-दूसरे के बाद अपने जीवनों का परित्याग करते हैं।

ऐसा नहीं होना चाहिए। क्योंकि देहान्तरगमन की दीर्घ अवधि के पश्चात् मनुष्य-जन्म प्राप्त करना कठिन है। एक सहस्र बार मनुष्य-जन्म पाने पर भी हो सकता है कि मनुष्य को प्रज्ञा प्राप्त न हो, न वह सात बोध्यङ्गों‡ को सुने और न तीन पूज्यों (रत्नत्रय) को मिले। अब हमें एक उत्कृष्ट स्थान में निवास मिला है और हमने प्रशंसनीय धर्म्म को धारण किया है। सूत्रों के केवल थोड़े से श्लोक पढ़कर ही अपने क्षुद्र शरीर को छोड़ देना व्यर्थ है। हमारे अनित्यता पर ध्यान करना आरम्भ करने के इतनी जल्दी बाद, हम ऐसी निःसार बलि को बड़ा कैसे समझ सकते हैं?

---

* अपने शरीर को जला देने, इत्यादि, की कथा सद्धर्मपुण्डरीक, अंश २२ में है।

† काश्यप के अनुसार यह मैत्रीबल की उपाधि थी, जिसका जातक जातकमाला (८ वीं) में मिलता है। कर्न का संस्करण पृष्ठ ४१ देखिए।

‡ चाइल्डर्स का S. V. बोज्झङ्गों।

हमें चार प्रकार के उपकारों* का बदला चुकाकर उपदेशों का ठीक-ठीक पालन करना और प्राणियों† की तीन श्रेणियों को बचाने के लिए ध्यान में लग जाना चाहिए। ठीक जिस प्रकार अतल सागर में तैरते समय मनुष्य ने पवन से भरा हुआ थैला पकड़ रक्खा हो, उसी प्रकार हमें अनुभव करना चाहिए कि एक छोटे-से अपराध में भी कितना बड़ा भय है। पतली बरफ़ पर दौड़ते हुए घोड़े के काँटा लगाने के सदृश, प्रज्ञा-प्राप्ति के लिए अनुष्ठान करते समय हमें पूरी तरह से होशियार रहना चाहिए।

इस प्रकार आचरण करने और अच्छे मित्रों की सहायता से हमारा मन जीवन के अन्तिम क्षण तक अचल रहेगा। ठीक तौर पर संकल्प बना लेने पर, हमें भावी बुद्ध मैत्रेय के मिलाप की प्रतीक्षा करनी चाहिए। यदि हम (हीनयान का) 'छोटा परिभोग' प्राप्त करना चाहते हैं तो हमें पवित्रीकरण की आठ अवस्थाओं के द्वारा उसे लेना चाहिए। परन्तु यदि हम (महायान के) 'बड़े परिभोग' के क्रम पर चलना सीखते हैं तो हमें तीन असंख्य कल्पों के द्वारा अपने कार्य को सम्पन्न करने का यत्न करना चाहिए।

मैंने कभी कोई ऐसा कारण नहीं सुना कि क्यों हम दुःसाहस से अपना जीवन दे दें। आत्म-हत्या का पाप पहली श्रेणी के निषेधों को तोड़ने के दूसरे दर्जे पर है। यदि हम विनय-पुस्तकों का सावधानी से निरूपण करें तो हम आत्म-हत्या की आज्ञा देनेवाला कोई वचन कभी न पायेंगे।

बुद्ध के अपने शब्दों में ही इन्द्रियों को वश में करने की महत्त्वपूर्ण रीति बताई गई है। कामनाओं को नष्ट करने के लिए अपने शरीर को जलाने से क्या लाभ? बुद्ध ने तो बधिया करने की भी आज्ञा नहीं दी,

---

* (१) बुद्ध, (२) राजा, (३) माता-पिता और (४) उपकारियों के उपकार।

† कामलोक, रूपलोक और अरूपलोक, अर्थात् त्रिभव।

परन्तु दूसरी ओर उसने स्वयं तालाब में मछलियों को छोड़ देने के लिए उभारा है। बुद्ध का वचन हमें किसी भारी उपदेश का उल्लंघन और अपनी मन-मानी करने का निषेध करता है। यदि हम अपने शरीरों को जलाने जैसे किसी अनुष्ठान की शरण लेते हैं तो हम उसकी श्रेष्ठ शिक्षा का परित्याग करते हैं। परन्तु हम उन लोगों के विषय में विचार नहीं कर रहे हैं जो विनय-नियमों को बिलकुल धारण न करके बोधिसत्त्व के अनुष्ठान का अनुकरण, और दूसरों के कल्याण के लिए अपने आपको बलि कर देना चाहते हैं।

[३६]

पास खड़े होनेवाले अपराधी हो जाते हैं

शरीर को जलाने का ऐसा कर्म बहुधा आन्तरिक निष्कपटता दिखलाने की एक रीति समझी जाती है। दो-तीन दृढ़ सुहृद् आपस में मिलकर युवा विद्यार्थियों को अपने जीवन नष्ट कर डालने की प्रेरणा करने के लिए सम्मति कर लेते हैं। जो इस रीति से पहले नष्ट होते हैं उन्हें स्थूल* अपराध लगता है, और जो लोग पीछे से उनके उदाहरण का अनुकरण करते हैं वे पाराजिका† अपराधी बनते हैं, क्योंकि वे (आत्महत्या का निषेध करनेवाले) नियम को तोड़कर फल-प्राप्ति की इच्छा करते हैं, और, आदेशों के उल्लंघन से मृत्यु की तलाश करते हुए, अपने कुनिर्मित संकल्प पर दृढ़ता से डटे रहते हैं। ऐसे लोगों ने कभी बुद्ध के सिद्धान्त का अध्ययन नहीं किया। यदि सतीर्थ इस अनुष्ठान के लिए उभारें तो उन्हें पाप लगता है (जिसका प्रायश्चित्त नहीं हो सकता), ठीक जिस प्रकार जब सुई की आँख टूट जाती है (तब फिर यह दुबारा नहीं बन सकती)। जो लोग दूसरे से कहते है कि तुम अपने आपको आग में क्यों नहीं फेंक

---

* घोर अपराध, देखिए चाइल्डर्स, S. V. थूलो।

† पहले और सबसे बुरे अपराध, देखिए चाइल्डर्स, S. V.

देते वे (ऐसा) पाप करते हैं (जो दूर नहीं हो सकता), जिस प्रकार कि टूटा हुआ पत्थर जुड़ नहीं सकता। मनुष्य को इस बात का ध्यान रखना चाहिए। लोकोक्ति है—'दूसरों के उपकारों का बदला देना अपनेजीवन को नष्ट कर डालने से, और चरित्र-गठन अपने नाम को कलंकित क से अच्छा है।' भूखे सिंह को अपना शरीर देना बोधिसत्त्व का ही मोक्ष का काम था। श्रमण के लिए यह उचित नहीं कि वह एक जीते कबूतर के स्थान में अपने शरीर से मांस काटकर दे। बोधिसत्त्व का अनुकरण करना हमारी शक्ति में नहीं। मैंने स्थूल रूप से बता दिया है कि त्रिपिटक के अनुसार कौन-सी बात उचित है और कौन-सी अनुचित। बुद्धिमानों को पूर्ण रूप से मालूम होना चाहिए कि अनुकरण करने के लिए कौन-सा अनुष्ठान ठीक है।

गंगा नदी में प्रतिदिन अनेक मनुष्य अपने आपको डुबाते हैं। बुद्ध-गया के पर्वत पर भी बहुधा आत्महत्यायें होती रहती हैं। कुछ लोग अ. आपको भूख से मारते हैं और कुछ नहीं खाते। कई लोग वृक्षों पर चढ़कर अपने आपको नीचे गिरा देते हैं।

जगत्पूज्य (बुद्ध) ने इन भटकाये हुए मनुष्यों को नास्तिक ठहराया है। कई लोग जान-बूझकर अपने पुरुषत्व को नष्ट करके हिजड़े बन जाते हैं।

ये कर्म विनय-शास्त्र के सर्वथा प्रतिकूल हैं। वे लोग भी, जो ऐसे अनुष्ठानों को अनुचित समझते हैं, डरते हैं कि यदि हम ऐसे कामों को रोकेंगे तो हमें पाप लगेगा। परन्तु यदि मनुष्य ऐसी रीति से अपना जीवन नष्ट करता है तो उसके अस्तित्व का बड़ा उद्देश खो जाता है।

इसी कारण बुद्ध ने इसका निषेध किया था। बढ़िया भिक्षुओं और विज्ञ उपाध्यायों ने इस अयुक्त हानिकारक रीति से कभी आचरण नहीं किया।